जीवन दर्शन

9.2

वर्ष ६

अङ्क ११

विषय सूची

विवेक का आदर तथा बल का सदुपयोग विकास की भूमि है ।

जीवन-दर्शन

उद्देश्य

मानव-जाति के सर्वतोमुखी विकास की तथा कर्तव्य-परायणता एवं साधन--निष्ठ जीवन की प्रेरणा देना ।

वर्ष ६] वृन्दावन, नवम्बर १९७१ [अंक ११

भक्त और उसकी महिमा

पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान के
तिथी
पु०सं० 7
भारती पुस्तकालय

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्,
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ।
निष्किंचना मय्यनुरक्तचेतसः
शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः,
कामैरनालब्धधियो जुषन्ति यत्
तन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम ।

--श्रीमद्भागवत ११-१४-१६, १७

अर्थ--भगवान कहते हैं, जिसको किसी की अपेक्षा नहीं, जो शान्त और निर्वैर है, जो समता में वास करता है, उस सन्त के पीछे-पीछे मैं सदा घूमा करता हूं, ताकि उसके चरणों की धूल उड़कर मुझपर पड़ जाय और मुझे पवित्र करदे ।

निरपेक्षता से प्राप्त होने वाले मुझ (आनन्दस्वरूप) के (मिलन से प्राप्त) सुख की जो अनुभूति मुझमें अनुरक्त चित्तवाले, अकिंचन, शान्त, सब प्राणियों को प्यार करने वाले तथा कामनाओं से अछूती बुद्धिवाले महात्माओं को होती है, उसे कोई दूसरा नहीं जान सकता ।

व्याख्या– रस की प्यास मानवमात्र को है। पर रस की खोज में मानव-दृष्टि सदा जाती है संसार की ओर। इसका कारण है मानव का शरीर के साथ तादात्म्य, जिससे उसकी सत्ता एक सीमित व्यक्तित्वमात्र रह जाती है तथा उसके लिए ज्ञान का साधन रह जाते हैं मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि करण। इनकी पहुँच जगत् तक ही है। शरीर भी जगत् का ही एक अंग है। इस प्रकार तादात्म्य के द्वारा मानव भी जगत् का अंग सा लगने लगता है। उसकी पहुँच भी जगत् तक ही सीमित हो जाती है। जगत् के अतीत से उसका सम्बन्ध विच्छिन्न सा रहता है। उसका सारा जीवन जगत की परिधि में सीमित हो जाता है। वह संसार से बँध जाता है। यही कारण है कि वह रस की अपनी स्वाभाविक प्यास को तृप्त करना चाहता है संसार के भोगों द्वारा।

जिस अखण्ड अनन्त रस की प्यास मानव में है, वह संसार उसे दे नहीं पाता। अतः प्यास न तृप्त होती है, न मिटती है, क्योंकि वह स्वाभाविक है। मानव रस की खोज में निरन्तर उसी प्रकार भटकता रहता है, जिस प्रकार जल का प्यासा मृग चमकीली रेत की ओर दौड़ता रहता है। जानकारी के जो करण उसके शरीर में हैं, वे उसे दर्शन कराते हैं केवल इन्द्रिय-विषयों का, विषयों से निर्मित वस्तुओं और परिस्थितियों का। यद्यपि वे परिवर्तनशील और नाशवान् हैं, वह उन्हें सत्य मान लेता है। उनमें से जो उसे सुन्दर और सुखद लगती हैं, उनमें उसका राग हो जाता है। राग कामनाओं को जन्म देता है और मानव कामना-पूर्ति में सुखकर जीवन मान लेता है।

किसी मानव की सब कामनाएं कभी पूर्ण नहीं होतीं, कुछ ही पूर्ण होती हैं और कुछ अपूर्ण रहती हैं। अतः मानव-जीवन कामना-पूर्ति-अपूर्तिमय बन जाता है। उसमें रहती हैं अप्राप्त सुखद परिस्थितियों की कामनाएं, उनकी पूर्ति का प्रयास, प्राप्त सुख की रक्षा की चिन्ता तथा उसके छिन जाने का भय और अपूर्ण कामनाओं तथा नष्ट हुई सुखद परिस्थितियों का दुख। इस जीवन में कामना-पूर्ति-काल का क्षणिक सुख ही मिल पाता है। उसके साथ-साथ चिन्ता, भय, श्रम, दुःख और सतत संघर्ष बना ही रहता है। जो थोड़ा सा सुख मिलता भी है, वह केवल सुख नहीं होता। अपने से नीचे सुख की अपेक्षा तो वह सुख लगता है, पर अपने से ऊँचे सुख की अपेक्षा वह दुख लगने लगता है। इसलिए अधिक सुखियों की अपेक्षा कम सुखी मानव प्रायः ईर्ष्या से परितप्त रहता

है। दूसरे, यह क्षणिक सापेक्ष सुख भी निर्भर होता है बाह्य परिस्थितियों पर, अतः मानव का तथाकथित सुखी जीवन उसे पराधीन भी बना देता है। ऐसा जीवन कभी रसमय हो ही नहीं सकता। जो रस इसमें मिलता सा प्रतीत होता है, उसे रसाभास ही कह सकते हैं।

संसार के इस जीवन से भिन्न भी एक जीवन है, जिसे प्राप्त किया है ऋषियों, मुनियों और सन्तों ने। जिन्होंने उसे प्राप्त किया है, उनका कहना है कि वह जीवन संसारातीत है। उसमें केवल रस ही रस है। वह रस न किसी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति पर निर्भर है, न उसकी तुलना संसार के किसी सुख से हो सकती है और न उसकी अनुभूति किसी करण—मन, बुद्धि, इन्द्रियादि से हो ही सकती है। वह सर्वातीत निरपेक्ष रस केवल उन्हीं को मिल पाता है, जो उन आनन्दमय से अभिन्न हो जाते हैं, अन्य किसी को भी नहीं—"तन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम"। वह न कहने में आता है, न अन्य के जानने में, वह बस है गूँगे का गुड़।

"रसो वै सः"—वे रस ही रस हैं—जैसा यह श्रुति कहती है, वे आनन्दमय ही सारे रस के आगार हैं। उन्हें चाहे परम सत्य कहें, चाहे ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा या भगवान और चाहे परम जीवन। उनसे अभिन्न होना ही परम जीवन, रसमय जीवन को प्राप्त करना है। अभिन्नता प्रदान करते हैं वे स्वयं, अपनी अहैतुकी कृपा से, जो बरस रही है निरन्तर, सबके लिए समान रूप से। पर उसका लाभ मिलता है उन्हें जो उससे लाभान्वित होना चाहते हैं। उसके लाभ से वंचित रखने वाला है स्वयं अपना सीमित व्यक्तित्व—अहन्ता, ममता और कामना का पुंज। वही आवरण है हमारे और उन आनन्दमय के बीच में। वह हटे तो उनकी कृपाशक्ति हमें उनसे आत्मसात् करदे। उसे हटाने का एक उत्तम उपाय है अपने को, अपने सारे व्यक्तित्व को उन्हें ही समर्पित कर देना। समर्पण होने पर उनकी कृपा स्वयं आवरण को हटाकर साधक को उनसे अभिन्न कर देती है।

भक्त के जो लक्षण ऊपर उद्धृत श्लोकों में कहे गये हैं, वे सब स्वतः उस साधक में अभिव्यक्त हो जाते हैं जो अपने को सर्वथा उन्हें समर्पित कर देता है। समर्पण होते ही संसार में जो कुछ है—शरीर, मन, बुद्धि आदि के सहित—उसपर से उसकी ममता हट जाती है और वह सच्चे अर्थ में 'अकिंचन' हो जाता है। कामनाएं उसमें उठतीं ही नहीं, अतः

उसकी बुद्धि उनसे अछूती रहकर ("कामैरनालब्धधियः") सम हो जाती है। कामना के अभाव में सुख-दुख देने वाली सभी परिस्थितियाँ उसके लिए समान हो जाती हैं। कामना-पूर्ति में बाधक ही शत्रु और सहायक ही मित्र हुआ करते हैं। कामनाओं के न रहने पर न कोई उसका शत्रु रहता है, न मित्र, वह राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि सब द्वन्द्वों से ऊपर उठ जाता है। इसप्रकार वह 'समदर्शी' और 'निर्वैर' हो जाता है। निष्कामता उसे संसार के सब संघर्षों, भयों और चिन्ताओं से मुक्त कर देती है। तब वह केवल शान्ति में निवास करता है। संसार की सारी आसक्तियाँ उसके हृदय से निकल जाती हैं और वह भगवत्प्रेममय, अनुरागमय एक अस्तित्वमात्र रह जाता है (मय्यनुरक्तचेतसः), जिससे सबके लिए करुणा की, प्रेम की एक अजस्र धारा सदा प्रवाहित होती रहती है— "अखिलजीववत्सलाः"।

ऐसे प्रेममूर्ति भक्त के लिए भगवान का प्यार उमड़ पड़ता है। उसे अपने से अभिन्न करने के लिए वे आतुर हो उठते हैं। तब भक्त और भगवान के बीच जो प्रेमलीला होती है, वह कही नहीं जा सकती। जिसे उसकी अनुभति हुई है, वह भी उसे कह नहीं सकता। यदि वह उसके विषय में कुछ सांकेतिक रूप से कहे भी, तो अन्य कोई उसे समझ ही नहीं सकता।

सन्तों का कहना है कि भगवान स्वयं उस परम भक्त के भक्त हो जाते हैं, यह कहना भी कठिन हो जाता है कि कौन प्रेमी है और कौन प्रेमास्पद। भगवान श्रीकृष्ण स्वयं अपने को ऐसे भक्तों का भक्त मान-कर ही, अपने परम भक्त उद्धव से अपने अन्तिम उपदेश में कह रहे हैं, "मैं ऐसे भक्त की चरण-रज के लिए सदा उसके पीछे-पीछे घूमा करता हूँ।" इससे अधिक भक्त-वत्सलता और क्या हो सकती है?

बात यह है कि जो जिसको प्यारा लगता है, वह उसे अपने से महान् और श्रेष्ठ लगता ही है। भक्त भगवान को प्यारा लगता है और भगवान भक्त को, इसलिए यदि ये एक दूसरे को सारी महिमा का आगार समझें, तो इसमें आश्चर्य ही क्या? वास्तव में तो वे दोनों ही महामहिमावान् हैं, क्योंकि वे दो होकर भी एक हैं और एक होते हुए भी दो से लगते हैं। उनकी यह लीला भी अचिन्त्य, अतर्क्य और अनिर्वच-नीय ही है।

सन्त-वाणी —*

चित्त-शुद्धि के लिए

निष्कामता की अनिवार्यता

[दिनांक ११–१०–५६ को श्रीस्वामी जी महाराज का राँची में दिया हुआ प्रवचन]

मेरे निज स्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन,

सच बात तो यह है कि हम सब उतना अवश्य जानते हैं जितना जानना है, उस पर भी विद्यमान राग की निवृत्ति के लिए मुझे बोलने का राग है, इसलिए बोलता हूँ। जब तक हम अपने साथ कोई बुराई स्वयं नहीं करते, तब तक हमारे ऊपर किसी और की की हुई किसी बुराई का प्रभाव नहीं होता, पर सोचते यह हैं कि मानों दूसरे लोग हमारे साथ बुराई करते हैं और हम अपने साथ बुराई नहीं करते। इस असावधानी से चित्त अशुद्ध हो जाता है। अब विचार यह करना है कि हम अपने साथ सबसे बड़ी बुराई क्या करते हैं। सबसे बड़ी बुराई हमसे यही होती है कि यद्यपि हम किसी के भोग्य हैं—व्यक्ति बन कर समाज के, शरीर बन कर विश्व के, जीव होकर ईश्वर के—परन्तु भोक्ता बन जाते हैं। खाद के सम्बन्ध में आप यह नहीं कह सकते कि उसकी मांग प्रत्येक पौधे को नहीं है। प्रत्येक पौधा इस प्रतीक्षा में रहता है कि मुझे खाद मिल जाय तो मैं विकसित हो जाऊं। इसका अर्थ आप यह न समझें कि जैसे भोग्य वस्तु विनाशी होती है, पर-प्रकाश्य होती है, परिवर्तनशील होती है, ऐसे ही हमारा जीवन परिवर्तनशील हो, विनाशी हो, पर-प्रकाश्य हो, पर ऐसी बात नहीं है, फिर भी यदि आप व्यक्तिगत दृष्टि से देखें तो आपको स्पष्ट विदित होगा कि आपका "मैं" किसी का विश्वास है, किसी की सेवा है, किसी का प्रेम है, किसी का अस्तित्व है, किसी की जरूरत है। आप ही बताइये कि इसके अतिरिक्त आपका "मैं" क्या है। तो जो वस्तु इतनी सुन्दर हो कि किसी की जरूरत बन सके, किसी का विश्वास हो सके, किसी की प्रीति हो सके और वह अपने में अभाव का अनुभव करे तो इससे बढ़ कर उस वस्तु की ओर असावधानी क्या हो सकती है ?

परन्तु हमसे भूल यह होती है कि हम अपने लिए दूसरों की आवश्यकता अनुभव करते हैं, जबकि हम स्वयं दूसरों की आवश्यकता हैं। आप कहेंगे कि हमें तो यह भास ही नहीं होता कि हम किसी की आवश्यकता हैं, अपितु यह मालूम होता है कि सारी सृष्टि मानो हमारी ही आवश्यकता हो, यानी हम ही सबको चाहते हैं, हमें सचमुच कोई नहीं चाहता। पर बात ऐसी नहीं है, बात तो ऐसी है कि ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं कि जो किसी न किसी की आवश्यकता न हो। प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक वस्तु किसी न किसी की आवश्यकता है, परन्तु हम किसी की आवश्यकता होने में अपनी न्यूनता मानते हैं, अनादर मानते हैं। वास्तव में बात ऐसी नहीं है। इसमें न्यूनता नहीं है, अनादर नहीं है, जो जिसकी आवश्यकता होता है, वह उसका प्रेमास्पद हो जाता है। यदि ऐसा न हो जाता तो हम वस्तुओं के लिए ऐसी बातें क्यों करने लगते हैं जो नहीं करनी चाहिये। अपने तक को बिगाड़ लेते हैं कि नहीं? भोग्य वस्तुओं के लिए प्राणी भोक्ता होकर अपना सर्वनाश कर लेता है। अपनी दृष्टि में ही गिर जाता है। चाहे हम पद के भोक्ता हों, चाहे हम माल के भोक्ता हों, चाहे हम कीर्ति के भोक्ता हों, चाहे हम यश के भोक्ता हों और चाहे हम किसी और भोग्य वस्तु के भोक्ता हों, भोक्ता होकर कोई भी प्राणी कभी भी अपनी दृष्टि में आदर के योग्य नहीं रहता, क्योंकि जब उसकी कामना की अपूर्ति होती है, तब तो वह क्षोभित हो जाता है और जब पूर्ति होती है, तब पराधीन हो जाता है। पूर्ति में पराधीन और अपूर्ति में क्षुब्ध होना--यह कौनसी महत्त्व की बात है? यदि किसी से पूछा जाय कि क्या तुम पराधीन और क्षुब्ध रहना पसन्द करोगे, तो हर एक भाई और बहन कहेगी कि हम तो कभी क्षुब्ध रहना पसन्द नहीं करेंगे। हम तो कभी पराधीन रहना नहीं चाहते हैं। हम तो स्वाधीन रहना चाहते हैं। परन्तु विचार करिए कि क्या भोक्ता बन कर कोई क्षोभ और पराधीनता से बच सकता है। कभी नहीं बच सकता। हम जो अपने जीवन में अपने को किसी न किसी प्रकार का भोक्ता मान लेते हैं, तो यह भोक्ता मान लेना क्या अपने साथ बुराई करना नहीं है? अपने द्वारा अपना विनाश नहीं है? अपने द्वारा अपने को पतित करना नहीं है? यदि हम और आप अपनी दृष्टि से अपनी ओर देखें, तो हम सबको यह बात मान लेनी पड़ेगी कि यदि हम किसी के भी भोक्ता बनते हैं, तो अपने द्वारा अपना सर्वनाश करते हैं।

अब आप कहेंगे कि बनें क्या ? भाई, किसी के भोग्य क्यों नहीं बन जाते ? आप कहेंगे कि भोग्य वस्तु का तो नाश होता है, तो हम कहेंगे कि भोक्ता का उससे पहले नाश होता है, क्योंकि भोग्य वस्तु तो भोक्ता से तद्रूप होती है, अभिन्न होती है, उसके साथ उसकी आत्मीयता होती है, लेकिन सच पूछिये तो भोक्ता तो बिल्कुल पराधीन हो जाता है, असमर्थ हो जाता है, दीन हो जाता है, तुच्छ हो जाता है, परन्तु हम सोचते हैं कि अगर हम व्यक्ति होकर कहीं समाज की भोग्य वस्तु बन गये, तो हमारा समाज में कोई अस्तित्व ही नहीं रहेगा और अगर समाज के कहीं शासक बन गये, तो संसार के गिने-चुने आदमियों में एक बड़े आदमी बन जावेंगे। अच्छा भाई, बड़े आदमी तो बन गये, लेकिन आपका बड़प्पन किस पर निर्भर रहा ? आप उदाहरण दे सकते हैं कि आप हिन्दुस्तान के प्राइम मिनिस्टर हो गये। तो हिन्दुस्तान में बड़प्पन था कि आप में ? आपमें बड़प्पन तब होता कि जब हिन्दुस्तान आपके बिना नहीं रह पाता और यह सोचता कि भाई हम तो अमुक व्यक्ति को ही अपना प्राइम मिनिस्टर चुनेंगे। लेकिन क्या ऐसा व्यक्ति आपने आज तक देखा है, क्या आज की दुनियाँ में ऐसा व्यक्ति देखा है कि जिसके स्थान को दूसरा नहीं लेना चाहता या लेने की बात दूसरे के मन में नहीं आती ? ऐसा व्यक्ति यदि कोई है, तो उसके लिए यह कह सकते हैं कि हां भाई, वह हिन्दुस्तान में सबसे बड़ा आदमी है।

लेकिन किसी भी प्रकार—बल से, विवेक से, चतुराई से, छल से, योग्यता के अभिमान या उपयोग से—हम ऊपर से तो कहते हैं कि हम तुम्हारी आवश्यकता हैं और भीतर से सोचते हैं कि हम तुम्हारे शासक हैं। तो मेरे भाई, जो जिसका शासक होता है, जो जिसका भोक्ता होता है, वह सदैव उसके अधीन रहता है लेकिन दिखाई उलटा देता है—उलटा यों कि यदि हम किसी की भोग्य वस्तु बन गये हैं, यदि हम किसी की जरूरत बन गये, यदि हम किसी के विश्वास होगये, यदि हम किसी के प्रेम हो गये, अथवा यों कहो कि यदि हम बे-जरूरत के हो गये तो मानों हमारा अस्तित्व ही नष्ट होगया, ऐसा उलटा भासता है।

वास्तव में, भाई, जीवन की दो ही अवस्थाएँ सार्थक मालूम होती हैं—या तो हम आवश्यकता से रहित हों या किसी की आवश्यकता हों। इन दो दशाओं के सिवा कोई दशा ऐसी नहीं हो सकती कि जिसमें हमारा चित्त शुद्ध हो सके। यदि हम आवश्यकता रहित हैं, तब भी हमारा चित्त शुद्ध हो सकता है।

यदि हम किसी की आवश्यकता हैं, तब भी हमारा चित्त शुद्ध हो सकता है। आप कहेंगे यह कैसे हो सकता है। यह तो कभी हो ही नहीं सकता कि हम आवश्यकता रहित हो जांय अथवा हम किसी की आवश्यकता हो जांय। यदि कोई यह नहीं हो सकता तो फिर और कुछ तो हो ही नहीं सकता; क्योंकि क्या सभी आवश्यकताएँ पूर्ण होती आपने देखी हैं ? हमनें तो कोई व्यक्ति ऐसा नहीं देखा और मिला तो है ही नहीं कि जो दिल खोल कर यह कह सके कि भाई हमारी कोई कामना ऐसी नहीं थी जो पूर्ण न हुई हो और भगवान न करे कि कोई व्यक्ति ऐसा हो जाय। सृष्टि के विधान में यदि कोई ऐसा कानून बन गया कि तुम्हारी सभी कामनाएं पूरी हो जायेंगी, तो अवनति का इससे बड़ा कारण और नहीं होगा। क्यों ? आप देख लीजिये, जीवन में अनुभव करके देखिये कि जिस समय आपकी कोई कामना पूर्ण होती है उस समय आपकी वस्तुस्थिति क्या होती है और जिस समय आपकी कामना पूरी नहीं होती है उस समय आपकी वस्तुस्थिति क्या होती है। आप देखेंगे कि कामना पूरी यदि हो जाती है, अथवा होने लगती है और आपके जीवन में यह बात आ जाती है कि यह कामना तो जब चाहेंगे, पूरी कर लेंगे, उस समय आपके जीवन में इस प्रकार की जड़ता आ जाती है कि न तो चेतना रहती है, न उत्साह रहता है, न जागृति रहती है और न तत्परता रहती है। लेकिन जिस समय आपकी कामना पूर्ण नहीं होती है उसी समय आपके जीवन में एक नवीन जागृति, एक नवीन उत्साह उत्पन्न होने लगता है। परन्तु भाई, कामना-पूर्ति का प्रलोभन और महत्त्व जब कामना-अपूर्ति का भय पैदा कर देता है, तब आप कहते हैं कि हाय हाय रे, हमारी कामना पूरी नहीं हुई और जीवन का एक बड़ा काला समय आगया, बड़ा बुरा समय आगया। लेकिन कामना-पूर्ति की वस्तुस्थिति को सोचें, तो आप मानिये कि उस समय जड़ता के अतिरिक्त और कोई स्थिति आपके जीवन में नहीं रह सकती।

मुझे तो एक सज्जन ने एक घटना सुनाई थी कि एक लड़की का विवाह हो गया और वह विवाह ऐसे परिवार में होगया जो उसकी दृष्टि में सब बात में ऊँचा था और हर समय ससुराल के लोग यह प्रतीक्षा करते रहते थे कि बहू जी जो कहें पूरा कर दें, ऐसी स्थिति थी; तो थोड़े दिन बाद लड़की पागल हो गई। यह सच्ची घटना है, कहानी नहीं। यह नियम है कि कामना-पूर्ति का जो प्रवाह है,

कामना-पूर्ति का जो जीवन है, वह चेतना से विमुख करने वाला जीवन है, जड़ता में आवद्ध करने वाला जीवन है और घोर पराधीन बनाने वाला जीवन है। परन्तु आज हमें वह जीवन इतना ऊंचा दिखाई देता है, इतना सुन्दर दिखाई देता है कि यदि हमारे मन की बात पूरी हो गई तो हम दुनिया में बहुत बड़े आदमी हो गये और यदि मन की बात पूरी नहीं हुई, तो बहुत से भाई-बहन सोचने लगते हैं कि हम तो बिलकुल अभागे हो गये।

भाई मेरे, यदि भूख लगने पर भोजन नहीं मिलता है, तो क्या हम भूखों मरने में भी असमर्थ हो गये? आज कल्पना करो कि हमें भूख लगी है और भोजन नहीं मिलता है, तो क्या हम इस बात में भी पराधीन हो गये कि हम भूखे मर सकें? आप कहेंगे कि मरना तो हमें प्रिय नहीं है। खाते-खाते आप बचेंगे क्या? आप कहेंगे कि भूख का दुख हमसे सहा नहीं जाता। तो भाई, यह तो कभी होता नहीं कि भूख का लगना और भोजन का मिलना युगपत् हो जाय, जैसे सूर्य का उदय और अन्धकार की निवृत्ति। किसी भी कामना की पूर्ति से पूर्व यदि उसकी अपूर्ति जनित वेदना जीवन में नहीं होती, तो पूर्ति-जनित सुख भी नहीं होता। आप देखिये यदि भूख लगने से पहले आपके सामने जलपान रख दिया जाय, नींद लगने से पहले आपको बिस्तर पर लिटा दिया जाय, शौच लगने से पहले आपको शौचालय में बिठा दिया जाय, तो क्या आप पसन्द करेंगे? आप पसन्द नहीं करेंगे, घबरा जायेंगे। तात्पर्य यह निकला कि प्रत्येक कामनापूर्ति से पूर्व, उस कामना की अपूर्ति का जो काल है, उसकी वेदना के बाद, उसके दुख के बाद, आप कामना-पूर्ति-जनित सुख का भोग करने में समर्थ होते हैं। अब इस दृष्टि से किसी गणितज्ञ से पूछा जाय कि भाई यदि हम १०० वर्ष तक जिन्दा रहें और खाते रहें, तो १०० वर्ष में कितने घंटे भूखे रहना पड़ेगा भाई। भूख का लगना आरम्भ होता है जहां भोजन की समाप्ति होती है और दुबारा भूख मालूम होने के आरम्भ तक जितना काल होता है उतने काल आपके भूख की तैयारी होती है सरकार। अगर आपने ८ बजे खा लिया और दुबारा भोजन १२ बजे करना चाहते हैं, तो चार घण्टे तक आप धीरे-धीरे भूख का संचय करेंगे और जिस वक्त आप भूख का संचय कर लेंगे तब दुबारा आपको भोजन का सुख मिलेगा। तो आप सोचिये, यदि २४ घण्टे में कोई व्यक्ति चार बार खाता हो, तो यदि १० मिनट भी भोजन में लगा लें आप, तो ४० मिनट भोजन का सुख मिलता है

और २३ घण्टे २० मिनट आप भूख लगने की तैयारी करते हैं। तो १०० वर्ष में कितने घण्टे भूखे रहे? और कल्पना करो आज सारा संसार एक ओर हो जाय और कहे, देख तुझे खाना तो मिलेगा ही नहीं, तो मैं कहता हूँ कि जितनी देर १०० वर्ष जिन्दा रहने वाला भूखा रहेगा, उससे कम भूखे रहने में हमें भूख से छुटकारा मिल जायगा। तो बताइये क्या हानि हुई? लेकिन हमें यह भय हो जाता है कि हाय-हाय रे, यदि भोजन नहीं मिला, तो मानों हमारा जीवन ही नहीं रहेगा।

अरे भाई, कितना बड़ा प्रमाद है कि हम कहते हैं कि हाय-हाय रे, यदि हमारे पास कोई सामान नहीं हुआ, तो हमारा जीवन ही समाप्त हो जायगा। आप जानते हैं वस्तुओं की लालसा ने जितना हमें दुखी किया है, वस्तुओं के अभाव ने उतना हमें दुखी नहीं किया। मेरे कहने का तात्पर्य है कि आज हम यह जो सोच बैठे हैं कि यदि हमारे पास सामान नहीं होगा तो हमारा अस्तित्व ही नहीं होगा, यदि हमारा कोई पद नहीं होगा तो हमारा अस्तित्व ही नहीं होगा, यह हमारी भूल है। मैं तो कहता हूँ कि यदि किसी को हमारी आवश्यकता नहीं होगी, तो हमारा अस्तित्व नहीं होगा और यदि हम किसी की आवश्यकता बन जांय, तो इसके लिए हमें किसी भी वस्तु या सामान की आवश्यकता नहीं होगी। अच्छा किसी भाई से पूछो कि तुम ऐसी स्त्री से विवाह करना चाहते हो जो हर वक्त अपनी कामना-पूर्ति के लिए तुमको तंग करे। मैं कहता हूँ कि एक भी आदमी संसार में नहीं मिलेगा जो यह कहे कि हम ऐसी स्त्री से विवाह करना चाहते हैं जो केवल अपनी ही कामना पूरी करना चाहे। और कहीं आपके सामने यह खबर आजाय कि भाई एक लड़की ऐसी है जो तुम्हारी शोभा बनना चाहती है, जो तुम्हारी जरूरत बनना चाहती है, जो तुम्हारी कमजोरियों को निभाना चाहती है, तो कौन ऐसा पुरुष होगा जो यह न कहे कि हम इसके साथ विवाह करेंगे? तात्पर्य यह निकला कि आप उसी को चाहते हैं, सरकार, जो आपकी पूर्ति में हेतु होता है। आप उसको नहीं चाहते हैं कि जो आपसे अपनी पूर्ति चाहता है। किसी विद्वान से पूछो, क्या तुम ऐसे विद्यार्थी को चाहते हो जो तुम्हारी बताई हुई बात याद न करे, सुने नहीं, पढ़े नहीं, कह देंगे भैया ऐसे विद्यार्थी से छुटकारा मिल जाय। अच्छा भाई, किसी डाक्टर से पूछो क्या तुम किसी ऐसे रोगी को चाहते हो जो रोगी तुम्हारी दी हुई दवा न खाय, तुम्हारा बताया हुआ पथ्य

स्वीकार न करे। आप कहेंगे भैया, ऐसे रोगी को हम नहीं चाहते । किसी गुरु से पूछो क्या तुम्हें ऐसा शिष्य चाहिए जो तुम्हारे आदेश का पालन न करे। आप कह देंगे नहीं। किसी मिल मालिक से पूछो क्या तुम ऐसा मैनेजर चाहते हो जो तुमसे अपने मन की बात पूरी करावे। वह कहेगा ऐसे मैनेजर से हम हार खाते हैं, हमें नहीं चाहिए। आप सोचें और गम्भीरता से सोचें कि जो कुछ भी चाहता है उसे दुनिया में आज कोई नहीं चाहता। तो दुनिया में लोग उसे चाहते हैं जो उसकी चाह की पूर्ति में हेतु बन जाय।

तो भाई मेरे, जब हम और आप इस बात को जानते हैं कि हम कुछ भी चाहेंगे, तो लोग हमें नहीं चाहेंगे, तो चाह के रखने का फिर जीवन में स्थान ही क्या रहा ? आप कहेंगे कि चाह-पूर्ति-जनित जो सुख है उससे वंचित हो जायेंगे। तो भाई, आप इसके लिए चिंता न करें। ऐसा किसी व्यक्ति का जीवन नहीं है कि २४ घण्टे में कुछ भी इच्छाएं पूरी न होती हों । कुछ न कुछ इच्छाएँ प्रत्येक भाई की, प्रत्येक बहन की प्रति दिन पूरी होती हैं । आपको यदि यह देखना ही है, यह अन्वेषण करना ही है कि चाह-पूर्ति में क्या है, तो २४ घण्टे में कई बार देखलो। लेकिन जरा, मेरे भाई, चाह-रहित होने की बात भी तो देख लो। अच्छा भाई, एक घण्टे के लिए, आध घण्टे के लिए, दस मिनट के लिए, पांच मिनट के लिए आप २४ घण्टे में ऐसा जीवन रखें कि जिस समय आप कुछ न चाहते हों। इसमें आपको कोई श्रम नहीं होगा, कोई व्यय नहीं होगा । आपको किसी प्रकार का संगठन बनाना या योग्यता-संपादन नहीं करना पड़ेगा। आप सच मानिये कि अल्प काल की चाह-रहितता का जो जीवन है, वह दीर्घ काल की चाह-पूर्ति के जीवन से बहुत ऊंचा है।

परन्तु इसका अर्थ कोई भाई-बहन यह न समझ बैठे कि सारे संसार को जड़ बनाना चाहता हूँ, शून्य बनाना चाहता हूँ, यह मेरा तात्पर्य नहीं है। मेरा तात्पर्य यह है कि जो तुम्हें नहीं चाहता, उसे तुम क्यों चाहते हो ? जब कि तुम इतने सुन्दर हो कि तुम्हारी जरूरत उस अनन्त को भी है और इस जगत को भी है। आप कहेंगे कि जगत को क्यों है। मैं तो सच कहता हूँ कि एक भिखारी भी, एक दीन से दीन प्राणी भी जगत को सुख देता है। हम और आप जरा ईमानदारी से सोचें कि जिस समय आप निकलते हैं कहीं और एक मुझ जैसा अंधा, लूला, लंगड़ा, भूखा, दीन, असमर्थ

प्राणी बैठा हो—ईमानदारी से कहो—उसको देख कर आपके मन पर क्या प्रभाव पड़ता है। आपको अपने सुख का अनुभव होता है। अपने में महानता का अनुभव होता है। उसके दर्शन मात्र से आपका हृदय करुणित होता है। उसके प्रति करुणित होने से आपके हृदय में उदारता का जन्म होता है। और सरकार, जरा अपने से ऊंचे आदमी को देखो—तब क्या होता है? हाय-हाय एक नम्बर से हम रह गये, नहीं तो क्लास ए-सर्विस में हम ही ले लिये जाते; क्या बतायें थोड़े से वोट कम हो गये, नहीं तो हम ही चुनाव में आ जाते - यह होता है कि नहीं? अपने से सुखी को जिस समय आप देखते हैं, अपने में दीनता का अनुभव करते हैं, अभाव का अनुभव करते हैं, मैं यह नहीं कहता हूँ कि करना चाहिए, लेकिन दुखी को देख कर दातापन का अनुभव और सुखी को देख कर दीनता का अनुभव आप करते हैं।

(अपूर्ण)

★

कामना-पूर्ति का प्रलोभन प्राणी को सर्वांश में सत्य का अनुसरण नहीं करने देता, अर्थात् न तो असत्य को जानकर उससे विमुख ही होने देता है और न असत्य को प्रकट करने का साहस ही रहने देता है। उसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति सत्य की तो चर्चा करता है और असत्य में रमण करता है, जो वास्तव में चित्त की अशुद्धि है। कामना-पूर्ति की दासता प्राणी के मूल्य का अपहरण कर लेती है, जिसके होते ही साधक वस्तु, व्यक्ति आदि के अधीन हो जाता है। वस्तु के अधीन होने से लोभ और व्यक्ति के अधीन होने से मोह की उत्पत्ति होती है, जो चित्त को अशुद्ध कर देती है।

(चित्तशुद्धि से)

प्रेम-तत्त्व

—श्री कन्हैयालाल दूगड़

प्रेम का तत्व निराला, आला
पल-पल प्रतिपल पलने वाला, कभी न ढलने वाला। प्रेम का०

देना ही देना हो शाश्वत, लेशमात्र नहीं लेना वांछित
फिर भी अमृत घटे न किंचित, ऐसा यह मधु-प्याला। प्रेम का०

दूरी से नहिं कहीं न्यूनता, पास रहे से नहीं पर्णता,
धन्य प्रीति की पावन सरिता, उर बिच बहे पनाला। प्रेम का०

मीरा सूर मुहम्मद ईसा, स्वामी सखा पिता जगदीशा,
मोहन मधुशाला की हाला, पीवे सो मतवाला। प्रेम का०

करे प्रतीक्षा चातक जैसे, बलिदानी खद्योतों वैसे,
विरह असह्य मीन के तैसे, वह पथ चलने वाला। प्रेम का०

शबरी से तुम पढ़ो प्रतीक्षा, पढ़ो विभीषण से पथ-दीक्षा,
हनुमत् से अनुगत की शिक्षा, रसिक गोप-बाला। प्रेम का०

प्रेम-प्रेमास्पद गौरी-शंकर, सियाराम श्रीराधा-गिरिधर,
श्री-नारायण उभय परस्पर, प्रेम-पान वाला। प्रेम का०

मानव-जीवन साधन-बेला, संच साधकों का है मेला,
लाल कन्हैया सद्गुरु-चेला, गुरुश्रुत तत्व उँडेला। प्रेम का०

दक्षिण की मीरा

मध्यकालीन दक्षिण भारत में भक्तिरस की जो बाढ़ आई उसका श्रेय है आलवारसन्तों को। आलवार का अर्थ होता है गहनावगाही, गोता लगाकर गहराई में पहुँचनेवाला, और आलवारसन्त वास्तव में भगवत्तत्त्व-महासागर के गहनावगाही ही थे। उन्हीं में एक थे विष्णुचित्त, पेरि अर्थात् महान् आलवार। वे दक्षिण की गंगा पुण्यतया कावेरी के तट पर रहते थे। विशेष पढ़े-लिखे तो वे थे नहीं, पर थे भगवत्प्रेम की मूर्ति और सदा भगवान की ही अखण्ड स्मृति में डूबे रहते थे।

एक दिन प्रातःकाल वे अपने उपवन में तुलसी-वृक्षों को जल दे रहे थे, उसी समय उन्हें कली सी सुन्दर और कोमलांगी एक नवजात बालिका दिखाई दी। उन्होंने बड़े स्नेह से उसे उठा लिया। भक्त का अपना तो कुछ होता ही नहीं, अपने होते हैं केवल भगवान और जो कुछ उसे मिल जाता है उसे वह समझता है भगवान का प्रेमोपहार। इन महान् आलवार ने कन्या ले जाकर उसे वट-पत्र-शायी नारायण के चरणों में रख दिया और हाथ जोड़ कर कहा, "भगवन् इसे, आपने ही भेजा है, यह आपकी ही है, अतः आप ही इसे स्वीकार करें।" विष्णु चित्त ने स्पष्ट रूप से सुना, "भक्त-प्रवर, तुम इस 'कोदई'—पुष्पमाला सी कमनीय—बालिका का अपनी पुत्री के समान पालन-पोषण करो, इसके द्वारा संसार का बड़ा उपकार होने वाला है।" पुष्पमाला के समान कमनीय (यही कोदई शब्द का अर्थ होता है) तो वह कन्या थी ही, अतः भगवान के दिये हुए कोदई नाम से ही प्रसिद्ध हो गई। आगे चल कर जब भगवत्कृपा का उसपर अवतरण हुआ, तब से वह आण्डाल कही जाने लगी।

भगवान को तो भक्ति का एक जीता-जागता अनूठा आदर्श मूर्तिमान् करना था, माधुर्य-रस की एक प्रेममयी रसधारा इस धराधाम पर प्रवाहित करनी थी। बालिका के जीवन का सारा विकास उन्हीं की कृपामयी प्रेरणा से हो रहा था। वह शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की भांति ज्यों-ज्यों बड़ी हुई उसके दिव्य गुण

सब को मुग्ध करने लगे। उसके स्वभाव के सौरभ से आस-पास का वातावरण महक उठा। जब उसने बोलना प्रारंभ किया, तो भगवान के नाम के अतिरिक्त उसने अपने मुख से कोई दूसरा नाम ही नहीं निकाला। भगवान का नाम लेना, उनकी पूजा के लिए उपवन से फूल चुनना, उनकी माला बनाकर भगवान को अर्पित करना—बस यही उसका दैनिक काम था। कुछ और बड़ी होने पर उसने भगवान श्री रंगनाथ को अपने पति के रूप में वरण कर लिया। उसके हृदय से निरन्तर प्रेमरस का प्रवाह उमड़ता रहता। उसमें कभी विरह की, कभी मिलन के आनन्द की, कभी प्रियतम के रूपमाधुर्य की और कभी अनुनय-विनय की हिलोरें उठती रहतीं। उन्हीं में उसका सारा व्यक्तित्व झूलता रहता।

श्रीरंग के लिए गुथी हुई माला वह प्रायः स्वयं पहन कर दर्पण के सामने खड़ी हो जाती और देखती कि प्रियतम के कण्ठ में यह माला कैसी लगेगी; कभी सोचने लगती, "क्या मेरा यह सौन्दर्य प्रियतम को रस दे सकता है? उन्हें रिझाने के लिए मेरे पास है ही क्या?" कोयल की कूक सुनकर उसके हृदय में हूक उठने लगती, वह उससे पूछती, "अरी कोयल मेरे प्राणप्यारे कहां हैं? वे मेरे सामने क्यों नहीं आते? मेरे हृदय में छिप, वे क्यों मुझे अपने विरह में तड़पाते हैं? मैं तो उनके लिए छटपटा रही हूँ और उन्हें खिलवाड़ सूझता है।"

स्वप्न में अपने प्राणप्यारे को देख वह जागने पर उन्मत्त सी उन्हें इधर-उधर ढूंढ़ने लगती, कहती, "प्रियतम, स्वप्न में प्रकट होकर क्यों मेरी विरह-ज्वाला को और भी भड़का गये? मुझे इस प्रकार झुलसाने में तुम्हें कौन सा आनन्द मिलता है? प्यारे, मैं जानती हूँ कि मैं तुम्हारे योग्य नहीं हूँ, पर प्राणप्रिय, जैसी भी हूँ, आपकी हूँ। मेरा और है ही कौन जिसकी शरण में मैं जाऊँ?

प्रेम का दीवानापन सदा उसपर सवार रहता। रास्ता चलने वालों से वह पूँछती, "अरे! तुमने क्या मेरे प्राणेश्वर को देखा है? वही-वही! जिसके कमल से नेत्र हैं, तीखी सी चितवन है, सांवरा सा सलोना रूप है।" फिर स्वयं उत्तर देती, "हां देखा क्यों नहीं है? वह तो वृन्दावन में बांसुरी बजाकर गोपियों के साथ विहार कर रहा है।" रसमयी काव्य-धारा स्वतः उसके हृदय से उमड़ पड़ी था। उसके हृद्गत भाव सदा पदों में व्यक्त होते और वह उन्हें गा-गाकर अपने प्रियतम को रिझाने का प्रयास करती

रहती। जैसे मीरा के पद हिन्दी का गौरव हैं, वैसे ही आण्डाल के पद तमिल भाषा की अनुपम निधि हैं।

श्रीरंगनाथ के लिए गूँथी हुई माला पहले स्वयं उसके पहन लेने से कुछ मुरझा सी जाती थी। पुजारी ने कई बार सन्देह प्रकट किया कि कहीं पहले और कोई तो माला नहीं पहन लेता है। विष्णुचित्त को पूरा विश्वास था कि आण्डाल ऐसा नहीं कर सकती। एक दिन पुजारी को माला में सिर का एक बाल दिखाई दिया। उसने माला यह कहकर लौटा दी कि वह जुठरी हुई है। विष्णुचित्तं ने पता लगाया तो तथ्य का पता उन्हें चल गया। उन्होंने आण्डाल को पहले माला पहन कर देखने से मना कर दिया।

पर भगवान तो किसी पदार्थ के भूखे हैं नहीं—चाहे अमृत ही क्यों न हो। जिसके भ्रू विलास-मात्र से यह अनन्त सृष्टि बन और बिगड़ सकती है, समस्त विश्व जिसके अनन्त ऐश्वर्य का एक अणु भी नहीं है, उसे दुनिया के तुच्छ पदार्थ क्या रिझा सकते हैं? वह तो भूखा है बस प्रेम का। जो वस्तु हृदय के उमड़ते प्रेम द्वारा अर्पित नहीं हुई है, वह हमारी दृष्टि में चाहे जितनी मूल्यवान् हो, उस सर्वेश्वर को रिझा नहीं सकती। प्रेम-शून्य विशाल मन्दिर उसे कैद नहीं कर सकते, बहुमूल्य वस्त्र या रत्नाभूषण उसे लुभा नहीं सकते, केवल पूजा-विधि की रक्षा के लिए अर्पित किये हुए नाना प्रकार के भोग उसे फीके लगते हैं, पर शवरी के जूठे वेर वह वड़े चाव से खाता है, विदुरानी के दिये हुए केले के छिलके खाकर वह आनन्द से झूम उठता है। हमारी दृष्टि में वे बेर थे, छिलके थे, पर उसके लिए तो वे थे प्रेम। वह प्रेम का ही भूखा है और प्रेम का ही सदा पान करता है। आण्डाल की पहनी हुई मालाएं प्रेममय होती थीं। वे श्रीरंग को भाती थीं। दूसरी मालाएं केवल लकीर पीटने के लिए चढ़ाई जाती थीं, वे उन्हें क्यों भाने लगीं। स्वप्न हुआ विष्णुचित्त और पुजारी को कि उन्हें आण्डाल की पहनी हुई मालाएं ही पहनाई जाया करें। स्वप्न में दिये हुए उनके आदेश का पालन किया गया।

आण्डाल के लिए प्रियतम का विरह असह्य हो उठा। उसकी प्रचण्ड ज्वाला में जल गया उसका सारा व्यक्तित्व—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार सब भस्मीभूत हो गये। रह गई बस प्रेममय विरह की एक मूर्ति। श्रीरंगनाथ भी अकुला उठे उसे आत्मसात् करने के लिए। स्वप्न में उन्होंने विष्णुचित्त और पुजारी को आदेश दिया कि आण्डाल तुरन्त उनके पास लाई जाय, ताकि वे

उसका पाणिग्रहण कर सकें। आण्डाल ने भी स्वप्न में देखा कि उसका विवाह धूमधाम से श्रीरंगनाथ के साथ हो रहा है। दूसरे दिन ही उसका स्वप्न सच्चा हो गया।

सवेरे ही सजी-धजी आण्डाल पालकी में बिठाकर बड़े बाजे-गाजे के साथ मन्दिर में पहुँचाई गई। शंख-ध्वनि होने लगी। वेदमंत्रोच्चार और श्रीरंगनाथ तथा आण्डाल के जयजयकार से मन्दिर गूंज उठा। चारों ओर आनन्द उमड़ पड़ा। प्रेमानन्द में मतवाली आण्डाल ने मन्दिर में प्रवेश किया। वह सीधे भगवान की शेष-शय्या पर चढ़ गई। मन्दिर में एक दिव्य प्रकाश छा गया। आण्डाल जाकर अपने प्रियतम के गले से लिपट गई। एक बिजली सी कौंधी और सबके देखते-देखते आण्डाल अपने प्रियतम में विलीन हो गई।

आज भी दक्षिण के वैष्णव मन्दिरों में श्रीरंगनाथ और आण्डाल का विवाहोत्सव प्रतिवर्ष सर्वत्र मनाया जाता है। आण्डाल भूदेवी का अवतार मानी जाती है। वराह अवतार लेकर जब भगवान ने हिरण्याक्ष के हाथों से उनका उद्धार किया, तब उन्होंने भगवान से पूछा था, "आपको कैसी पूजा सर्वप्रिय है?" भगवान ने कहा था, "प्रेम से मेरा नामोच्चारण तथा प्रेम से जल, पत्र-पुष्प का अर्पण ही मेरी सर्वोत्तम पूजा है।" तबसे भूदेवी की इस प्रकार की सर्वश्रेष्ठ पूजा करने की अभिलाषा बनी ही रही। आण्डाल के रूप में अवतार लेकर उन्होंने अपनी साध पूरी की।

★

पतित से पतित प्राणी भी शरणागत होते ही पवित्र हो जाता है, जिस भाँति मिट्टी कुम्हार की शरणागत होकर कुम्हार की ही योग्यता और बल से कुम्हार के काम आती है और कुम्हार का प्यार पाती है, उसी भाँति शरणागत शरण्य के ही अनन्त ऐश्वर्य एवं माधुर्य से शरण्य के काम आता है एवं उसका प्यार पाता है। यह नियम है कि जो जिसके काम आता है, वह उसका प्रेम-पात्र हो जाता है, अतः इसी नियमानुसार शरणागत शरण्य का शरण्य हो जाता है। भला इससे अधिक सुगम एवं स्वतन्त्र कौन सा मार्ग है जो स्वतन्त्रता-पूर्वक साधक को शरण्य का शरण्य बना देता है?

[सन्त समागम भाग २ से]

सामूहिक साक्षात्कार का उपाय

• श्री कांतिभाईजी शाह

एक तप पूरा हुआ। कुछ स्वरूप वना। अब तक के अनुभव के साथ नया तप शुरू हुआ। यह कोई बच्चों का खेल नहीं है। एक जिंदगी क्या, अनेक जिंदगियाँ देनी पड़ेंगी। समूहरूपेण साक्षात्कार की हमारी कल्पना है। आज तक की की हुई साधना से यह काम भिन्न है। एक नयी राह ढूँढ़नी है। खाद बनने की तैयारी के साथ पुरुषार्थ करते रहना है।

एक मिशन को लेकर ही तो सब इकट्ठे हुए हैं। इसलिए मिशन ढूंढ़ने कहीं जाना नहीं है। जरूरत होती है इन सबके बीच स्नेह की, जिससे कि उस मिशन के लिए सामूहिक पुरुषार्थ हो सके। इसलिए आजकल बाबा ईशु के उस आदेश की बार-बार याद दिला रहे हैं—यी लव वन अनदर ऐज आई हैव लव्ड यी (एक-दूसरे से वैसा ही प्यार करो, जैसा मैंने तुमको किया है)। किसी भी मिशन के साथियों के लिए इससे बढ़ कर और कोई आदेश नहीं हो सकता। तुकाराम ने कहा है, "साधकों का आपस-आपस में गहरा प्रेम सहज है।" यदि हमारे लिए वह इतना सहज नहीं है, तो क्या हम अब तक साधक नहीं बने हैं? अपने भीतर टटोल लेने की बात है। अब तक नहीं बने होंगे, तो अब बनेंगे।

आपस-आपस में स्नेह! ऐसा स्नेह तभी पनप सकता है, जब परस्पर परिचय बढ़ेगा। बाबा ने चतुर्विध परिचय की बात कही है—नाम, रूप, कार्य और अंतरंग का परिचय। हम लोगों का परस्पर परिचय ज्यादातर नाम-रूप तक ही सीमित रहता है। कार्य का कुछ थोड़ा परिचय रहता है और अंतरंग का परिचय नहींवत् ही। "लव वन अनदर" (परस्पर प्रेम) के लिए अंतरंग परिचय अनिवार्य है। ऐसा परस्पर परिचय बढ़ाने की हम सब कोशिश करें। निकट परिचय से गुण और शक्ति के साथ दोष और कमियों का भी दर्शन होगा। लेकिन उसके बिना परिचय में मजा ही क्या है? प्रेम

दोष आदि को केवल सहन ही नहीं करता, वल्कि अक्सर चाहने भी लगता है। मुझे फलाना व्यक्ति प्रिय है—उसके सभी गुण-दोषों एवं कुशलता-अकुशलता के साथ। इसका अभ्यास हमें परिवार में हुआ ही है। कार्यकर्ता-परिवार एवं साधक-परिवार में करना बाकी है।

समूह में, हर बात में, समूह के सभी पचीस-तीस व्यक्तियों का संपर्क रहे, यह संभवनीय नहीं। स्वाभाविकतया किसी दो-चार व्यक्तियों का अधिक निकट परिचय बन जाता है, तो अक्सर सवाल उठता है कि क्या यह ठीक है? सब के साथ समान रूप से आत्मीय और निकट का सम्बन्ध क्यों न हो? लेकिन अनुभव यह है कि व्यवहार में यह बन नहीं सकता। कुछ न कुछ अन्तर रह ही जाता है। एक प्रकार का भावात्मक समान भाव तो रहता है, लेकिन बाह्य रूप से समान संबंध सध नहीं सकता। स्वभाव, रुचि, जीवन-दृष्टि आदि का भी सवाल रहता है। आश्रम में और जेल में बाबा का काकासाहेब, साने गुरुजी आदि से जितना निकट संपर्क बना उतना सभी के साथ नहीं बन सका। समय और शक्ति की दृष्टि से भी एक स्वाभाविक मर्यादा आ जाती है।

इस बात की चर्चा में बापू का वह कथन अक्सर सामने आता है कि 'जो आत्मा की, ईश्वर की मित्रता चाहता है, उसे एकाकी रहना चाहिए, अथवा कुल दुनिया के साथ मित्रता रखनी चाहिए, इस बारे में ठीक विचार-सफाई हो जाना चाहिए।' बाबा ने इसका वहुत अच्छा विवरण किया है—"बापू के इस वाक्य का अर्थ यह नहीं कि हमारा कोई आत्मीय मित्र न हो। विश्व के साथ मैत्री का अर्थ है निर्वैरता। लेकिन सहयोगी मनुष्यों के साथ आध्यात्मिक आंतरिक मंडल बनना ही चाहिए। ऐसा न होता हो, तो उतनी हमारी कमी है। हम अन्योन्य अनुराग से बंधे होते हैं, तो वह भी हमारी शक्ति बन सकती है।"

और ब्रह्मविद्या-मन्दिर की बहन दूसरी बहन का विरह अनुभव करती है, उसका जिक्र करते हुए बाबा ने कहा है—"यही तो ब्रह्मविद्या है। हेरि अहरह तोमारि विरह भुवने भुवने राजे हे—हे भगवान इस सृष्टि में तू कहाँ विराजमान है? तेरा विरह ही विश्वरूप धारण करके सामने प्रकट हुआ है। हम विश्व को नहीं, तेरे विरह को ही रात-दिन देख रहे हैं...... इसलिए मैंने उस बहन को लिखा कि तू विरह अनुभव कर रही है, यह साक्षात् ब्रह्मविद्या ही है। यह विरह ऐसी बहन का है, जिसके साथ तेरा कोई स्थूल सम्बन्ध नहीं। उसका तू विरह अनुभव कर रही है, उसी को तो भक्ति कहते हैं।

इसलिए हम सब अन्योन्य अनुराग से बंधे रहें और अकारण विरह अनुभव करते रहें।"

यहां गुजरात की हरिश्चन्द्र बहनों की मूर्ति मेरे सामने आजाती है। शायद आराम-बाग आश्रम-मिलन में खुद बाबा ने ही जिक्र किया था कि ये दोनों बहनें हमारे अंतरमंडल की सदस्या हैं। बाबा ने उनसे कहा है—"तुम दोनों के एकत्व-निश्चय में ब्रह्मविद्या छिपी हुई है।" मेरे मन में यह बात पक्की जंच गई है। विनोबा जैसे कुछ इनेगिने साधक की बात छोड़ दें, लेकिन हम जैसे साधारण साधकों के लिए तो व्यक्तिगत सम्बन्धों में अशेष आत्मीयता का अनुभव ही ईश्वर-दर्शन का राजमार्ग हो सकता है। कई वर्षों से मेरे मन में कल्पना थी कि ऐसे आत्मीय मानव-संबंध होने चाहिए, जिसमें परस्परों के बीच छिपाने की कोई भी चीज न हो, अपनी नितान्त नग्नता में परस्पर का परिचय हो। भिन्न देह, एक प्राण। मुझे एहसास नहीं था कि यह युक्लिड की बिंदु की कल्पना जैसी कोई निरी कल्पना है या वह प्रत्यक्ष व्यवहार में भी हो सकता है। लेकिन यह केवल कल्पना ही नहीं है, मानव-जीवन में वह पूर्णतया चरितार्थ हो सकती है, इसका पक्का एहसास मुझे इन दो बहनों के प्रत्यक्ष उदाहरण से ही हुआ।

उन दोनों के एकत्व का सुभग दर्शन कुछ निकट से करने का सद्भाग्य मुझे मिला है। दोनों के स्वभाव काफी भिन्न हैं। रुचि के विषय भी अलग-अलग हैं। कार्य-पद्धति में भी बहुत अंतर है। फिर भी यह सारी बाह्य भिन्नता उन दोनों के आंतरिक एकत्व को खंडित करने के बजाय अधिक पुष्ट और मनोरम्य बनाती है। उन दोनों की एकत्व-मूर्ति को देख कर मेरे चित्त में और दिल में निःस्पंद प्रसन्नता की अनुभूति होती है। मानव को प्रकृति का निखार देखकर कैसी प्रसन्नता होती है! वैसे ही मानव-संबंध का ऐसा सभर-संपन्न सौंदर्य देख कर भी हर साधक को प्रसन्नता होनी चाहिए। ऐसा एकत्व मैं खुद किसी के साथ इस जन्म में साध सकूंगा या नहीं भगवान जाने : लेकिन कुछ लोगों का आपस में अच्छा बनता हो, तो उसे देख कर मुझे आनंद के साथ प्रेरणा ही मिलनी चाहिए। अगर मुझमें वैसी शक्ति न हो, तो मानसिक आदर भी एक सेवा होगी। उसके बजाय मेरे मन में कुछ प्रत्याघात उठते हों, तो मानना चाहिए कि उसका कारण है दुर्बलता के साथ अहंभाव। पुरुषार्थहीनता का वह लक्षण है। फिर हम उसे ढांकने के लिए भले ही बड़े-बड़े शब्दा-डंबर और तत्त्वमीमांसा का आश्रय लें, उसमें हमारा श्रेय नहीं। इस चीज को सूक्ष्मता से समझना होगा। कहीं भी मानवसंबंध में एकत्व, अनुराग

और आत्मीयता का दर्शन हुआ, तो उससे आनंदानुभूति पाने की ओर उसमें से अपने पुरुषार्थ के लिए प्रेरणा पाने की हमारी मनोवृत्ति बननी चाहिए ।

ऐसी भक्तिमय, सगुण, साकार मैत्री की हम सब में लगन हो । इस बारे में हमारे मन में कुछ भी अस्पष्टता हो, तो उसका निरसन करते हुए बाबा ने आखिर में कहा है—"ऐसे एकत्व के अनुभव में ही ब्रह्मविद्या छिपी हुई है । आध्यात्मिक स्नेह सब के साथ साध सकते हैं। लेकिन व्यक्तिगत परिचय और तन्मूलक स्नेह का अनुबंध तथा तद्विषयक कर्तव्य-भावना मर्यादित ही रह सकती है ।"

तो सभी के साथ निर्वैरता और अधिक से अधिक के साथ निकटतम आत्मीयता, हमारी यह साधना होगी।

दूसरी बात साधनी है अकार्यक्रम की । फिर भी कुछ काम तो अनिवार्य ही है—खेती, छपाई, सफाई, रसोई, वृद्धों की सेवा । इसमें रसोई का काम भी है । ब्रह्मविद्या-मन्दिर के आरम्भ में बाबा ने भोजन के बारे में जो एक सूत्र दिया था, वह मेरे मन में बिलकुल जम गया है। "सुस्वादु भोजन अस्वाद वृत्ति से खाना" । अब 'सुस्वादु' किसे कहा जाय, इस बारे में भिन्न-भिन्न रुचि एवं राय हो सकती है। हालांकि सुस्वादु क्या नहीं है, इस बारे में काफी एकमति हो सकती है। रोज सुबह-शाम चिऊड़ा-मुरमुरा फांकना सुस्वादु भोजन गिना जायगा या नहीं, भगवान जाने ।

हां, विषय तो बड़ा ही मनोरंजक है। बाबा हंसते ही रहते हैं, खूब हंसते हैं, आंखों से पानी आने लगता है। लेकिन यह न भूलें कि ये संत-महात्मा बड़े 'धोखेबाज' होते हैं। मुझे याद है, एक बार बोधगया में बातचीत के दौरान बाबा ऐसे ही हंसते रहे थे और आखिर में हम लोगों को एक मराठी कहावत की याद दिलाई थी—"अति झालें हंसू आलें" (अति होगई और हंसी आगयी)। इसलिए सावधान रहना, उस हंसी से कहीं धोखे में न पड़ जाना।

मातृवत्ता के बिना ब्रह्मविद्या सधेगी क्या ? लाखों-करोड़ों घरों में बहने रसोई का यह मातृकार्य बड़े प्रेम से कर रही हैं। हां, आज यह रसोड़ा बहनों की जेल बन बैठा है, वह सही है । फिर भी वही रसोड़ा तपोभूमि बन सकता है। खुद बाबा ने कहा है—"रसोई के साथ भावना जुड़ी हुई होती है। जो अन्न पकाता है, उसकी भावना का स्पर्श अन्न को होता है। इसलिए अत्यन्त निर्मल भाव से अन्न पकाना चाहिए .... रसोई, सफाई सब एक ही कार्य है—भगवत् सेवा .... दूध गरम करना है, तो प्रार्थना में आने की क्या जरूरत है ?"

"सादी सरल क्रिया ध्यान के लिए एक आलम्बन है"—मुझे इस बात का काफी अनुभव है। मानसिक कार्य के बजाय शारीरिक कार्य करते-करते ध्यान अधिक सरल है। शरीर काम करता रहेगा, चित्त ध्यानमग्न हो जायेगा। हम सब जानते हैं कि हम भले किसी विचार में हों, फिर भी हमारे पैर रोज के परिचित रास्ते से हमें घर ले ही जायेंगे। मैंने देखा है कि मैं आटा पीस रहा हूँ, या पानी का हैंड पम्प चला रहा हूँ, या अंबर चरखा कात रहा हूं, या बरतन साफ कर रहा हूँ, तब चित्त बड़ा शाँत रहता है और गहरे चिन्तन में डूब सकता है। हाथ हाथ का काम करता है, चित्त चित्त का। हालांकि मेरे पल्ले मानसिक काम ही ज्यादा पड़ा है, मुझे हमेशा कुछ न कुछ शारीरिक काम करने की इच्छा रहती है। मैं तो आग्रहपूर्वक कहूँगा कि मानसिक काम करने वाले सभी उतना ही समय शारीरिक काम के पीछे भी अवश्य दें। उससे मानसिक शांति और स्वास्थ्य मिलेगा तथा चित्त हल्कापन महसूस करेगा।

एक छोटे-से समूह में सामूहिक साधना करने का थोड़ा-सा अनुभव मुझे भी है। मैंने देखा है कि परस्पर हार्दिकता का संभव होता है, तो कई मसले अपने आप ही निपट जाते हैं। लेकिन एक बात ध्यान में रखने लायक है। जैसे गृहस्थी में माता अपने को खपा देती है और कई अरुचिकर काम अपने सिर पर ही ढो लेती है, वैसे समूह में भी अमुक व्यक्ति ऐसा हो सकता है। उसमें उस व्यक्ति का तो परम कल्याण है, लेकिन सामूहिक साधना का लाभ नहीं मिलेगा। इसलिए बीच में कुछ काल बाबा ने जब अक्का को रसोड़े के काम से मुक्त किया था, तब मुझे अच्छा लगा था। मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि समूह के हर एक सदस्य को बारीबारी से हर एक काम की जिम्मेवारी लेनी ही चाहिए। कोई काम किसी के लिए अछूता न हो। हर काम हमारे लिए साधना का और समूह के प्रति हमारी जिम्मेवारी निभाने का माध्यम बन जाये।

इस दृष्टि से चर्चा के दौरान यह जो एक सुझाव आया है, वह मुझे बहुत ही अच्छा लगा—व्यावहारिक व्यवस्था का जिम्मा दो-चार लोगों को सौंप दिया जाये। वे जो काम बतायें, उसको चुपचाप मान्य करें। ये दो-चार लोग कुछ अवधि के बाद बदले भी जा सकते हैं। प्रयोग करके देखा जाये। इस नियम में कोई अपवाद न हो।

(मैत्री से साभार)

क्षितिज के उस पार

❋

—श्री गणपत सिंह

दूर - दूर बहुत दूर,
क्षितिज के उस पार साथी,
है कोई मुझको बुलाता।

मैं खिंचा जाता चला हूँ,
मान का कर त्याग साथी,
पर क्षितिज का पार साथी,
दूर हो उतना ही जाता।

मार्ग में बिखरे पड़े हैं,
ढेर सोने चाँदियों के,
ठिठक मैं जाता अवश्य
पर मुझे चलना ही भाता।

मैं सदा चलता रहा हूँ,
और चलता ही रहूँगा।
त्याग, सेवा, प्रेम से
भरपूर जीवन को बनाता।

राम की विनयशीलता

—श्री शिवानन्द जी

जीवन में समस्त कार्य-सम्पादन के लिए विविध प्रकार की शक्तियों के उपचय की आवश्यकता होती है, किन्तु उनके उपयोग का कोई सुदूर-संस्थित उद्देश्य भी होना चाहिए। दुष्ट प्रकृति के लोग परपीडन में ही सुख का अनुभव करते हैं तथा सत्पुरुष अपनी पूरी शक्तियों को जुटा कर परहित करने में अपने जीवन की सार्थकता मानते हैं। यही आशय एक श्लोक में भी व्यक्त हुआ है।

विद्या विवादाय धनं मदाय
शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतत्
ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

खल पुरुष विद्या को विवाद के लिए, धन को मद के लिए, बल को परपीडन के लिए प्रयुक्त करता है। सत्पुरुष, इसके विपरीत, विद्या को ज्ञान संवर्द्धन के लिए, धन को दान देने के लिए तथा बल को पर-रक्षण के लिए प्रयुक्त करता है।

समाज व्यवस्था के हित में दंड के द्वारा दमन की आवश्यकता होती है और एतदर्थ शक्ति का उपयोग करना एक कर्त्तव्य हो जाता है। दण्ड समस्त प्रजाओं पर शासन करता है। "दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः।" दण्ड प्रकृति का विधान है। पशुजगत् में बन्दर और बिल्ली भी अपने बच्चों को पंजे से मार कर समझाने का प्रयत्न करते हैं। "दण्डो दमयितामस्मि" (गीता)। उचित दमन करने वालों के दण्ड में भी प्रभु का निवास है। दण्ड हेतु बल-प्रयोग, अन्त में विवश होने पर ही होना चाहिए। दण्ड अपराध के अनुरूप, उपयुक्त, यथेष्ट तथा समीचीन होना चाहिए। दण्ड देने हेतु सत्ताधारी व्यक्ति के लिए क्रोध प्रदर्शन करना भी आवश्यक हो जाता है। अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः।" सत्तावान् मनुष्य को अवसर आने पर सत्ता के अधिरक्षण के लिए अमर्ष अथवा रोष का आभास कराना अत्यावश्यक होता

है। साधारणजन अमर्षशून्य व्यक्ति की अवहेलना करने लगते हैं और शत्रु उसका न तो आदर करते हैं, न भय ही मानते हैं। सत्ता की प्रतिष्ठा के संदर्भ में दण्ड और रोष का विशेष महत्त्व है। किन्तु, दण्ड और अमर्ष के पीछे दण्डयिता के मन में सद्भाव अवश्य होना चाहिए।

शौर्य प्रदर्शन के पृष्ठ में आधारभूत सहज मार्दव एवं माधुर्य होने पर व्यक्तित्व में दीप्ति एवं आकर्षण उत्पन्न हो जाते हैं। केवल बल के लिए ही बल प्रयोग करना तो पशुता सूचक होता है तथा उसमें एक नीरसता अथवा नृशंसता की गन्ध आ जाती है। शौर्य की महिमा विनम्र भाव में निहित होती है। कठोर पग उठाने पर भी हृदय मृदु एवं मधुर ही होना चाहिए। राम जो युद्ध काल में वज्र से भी अधिक कठोर प्रतीत होते हैं, वास्तव में वे अन्तस्तल में कुसुम की अपेक्षा भी अधिक सुकोमल हैं।

राम विषम स्थिति देख कर पलायन नहीं करते हैं बल्कि उसका डट कर सामना करते हैं। पहले वे समन्वय का प्रयत्न करते हैं और उसके विफल होने पर बलपूर्वक दुष्टता का प्रतिरोध करते हैं। समुद्र के द्वारा अनुनय-विनय तिरस्कृत होने पर ही राम ने उस पर शरसंधान किया। हनुमान तथा अंगद के विफल होने पर तथा समन्वय की संभावना विलुप्त होने पर ही राम ने सैन्य सहित रावण का वध किया।

राम पराक्रमी हैं किन्तु उनके पराक्रम का सौन्दर्य उनकी निरभिमानता एवं विनयशीलता में निहित है। राम अपने शौर्य एवं पराक्रम पर गर्व नहीं करते हैं और उसका कहीं बखान भी नहीं करते हैं। राम विचार एवं व्यवहार में विनम्र हैं। कविकुल-शिरोमणि तुलसी स्वयं उत्कृष्ट कवि होकर भी अपनी विनम्रता का परिचय देते हैं और उसी के अनुरूप उनके उपास्य राम सर्वगुण सम्पन्न होकर भी परम विनयशील हैं।

साधारणतः प्रभुता पाकर अथवा पराक्रम दिखा कर मनुष्यों में मदमत्तता आ जाती है और वे अपने गौरव का स्वयं बखान करने लगते हैं, किन्तु राम तो विनीत हैं। उग्र परशुराम के गर्वीले शब्दों को सुनकर आत्मपरिचय देते हुए राम कहते हैं—"राम-मात्र लघुनाम हमारा, परशु सहित बड़ नाम तिहारा।"

युद्ध स्थल पर राम स्वयं ही नीति का वर्णन करते हुए तीन प्रकार के मनुष्यों का वर्णन करते हैं जो कि क्रमशः गुलाब, आम और कटहल के समान होते हैं। एक (गुलाब)फूल

देते हैं, एक (आम) फूल तथा फल दोनों ही देते हैं और एक (कटहल) में केवल फल ही लगते हैं। मनुष्यों में, एक कहते हैं, करते नहीं हैं, दूसरे कहते हैं और करते भी हैं तथा तीसरे, जो श्रेष्ठ हैं, केवल करते हैं किन्तु वाणी से कहते नहीं हैं।

संसार महं पूरुष त्रिविध
पाटल रसाल पनसः समा।
एक सुमन-प्रद एक सुमन-फल
एक फलइ केवल लागई।
एक कहहिं, कहहिं करहिं अपर,
एक करहिं कहत न बागई॥

श्रेष्ठ पराक्रमी राम अपने पराक्रम का स्वयं वर्णन नहीं करते हैं बल्कि अन्य जन के द्वारा प्रशंसा होने पर भी संकोच का ही अनुभव करते हैं।

राम की विनशीलता का एक और उदाहरण है। वे परम बलवान् रावण के वध का श्रेय भी स्वयं नहीं लेते हैं। भालुओं एवं कपियों को इस महान् कार्य के सम्पादन का यश देते हुए राम उनसे कहते हैं—तुम्हरे बल मैं रावनु मारचो।

पुनः संग्राम विजय के पश्चात् पुष्पक विमान पर बैठ कर जब राम अयोध्या लौट रहे हैं, वे जानकी से लक्ष्मण, हनुमान, अंगद आदि के शौर्य की प्रशंसा करते हैं, किन्तु यह नहीं कहते हैं कि मैंने दैत्यराज रावण और कुम्भकरण का वध किया। उनके वध की चर्चा कर्मवाच्य में करते हुए, उसकी गौणता प्रदर्शित करते हैं तथा स्वयं उसका श्रेय नहीं लेते हैं।

कह रघुबीर देखु रन सीता।
लछिमन इहाँ हत्यो इन्द्रजीता॥
हनूमान अंगद के मारे।
रन महि परे निसाचर भारे॥
कुम्भकरन रावण द्वौ भाई।
इहीं हते सुर मुनि दुखदाई॥

इसके उपरान्त राम अपने एक कार्य की चर्चा सोल्लास करते हैं—वह है, शिवलिंग की स्थापना।

इहां सेतु बाध्यों अरु थापेउं सुखधाम।
सीता सहित कृपानिधि संभुहि कीन्ह प्रनाम॥

अयोध्या में लौट आने पर राम ने सब सखाओं को बुलाकर उनसे वसिष्ठ मुनि की अर्चना कराई तथा उन्हें ही अपनी सफलता का यश देते हुए कहा है—

गुरु वसिष्ठ कुल पूज्य हमारे।
इन्ह की कृपा दनुज रन मारे॥

उसी स्थल पर राम मुनि से कपियों की प्रसंशा करते हुए अपनी कृतज्ञता का कैसा प्रकाशन करते हैं—

ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे ।
भये समर सागर कहँ बेरे ।।
मम हित लागि जनम इन्ह हारे ।
भरतहु ते मोहि अधिक पियारे ।।

राम सत्ताधारी होकर आश्रित-जन को कैसा आदर देते हैं—

प्रभु तरु तर कपि डार पर
ते किए आपु समान ।
तुलसी कहूँ न राम से
साहिब सीलनिधान ।।

राम वृक्षों की शाखाओं पर कूदने वाले कपियों को अपने समान बना कर उनके साथ सखा का सा व्यवहार करते हैं । धन्य है पराक्रमी राम का शील तथा उनकी विनय-शीलता !

एक मौनव्रती ब्राह्मण अपने आश्रम के निकट-स्थित जंगल में कुश लेने गया । उसी समय उस प्रदेश के राजा विभीषण भ्रमण करते हुए उधर से आ निकले । उन्होंने ब्राह्मण से कुछ पूछा । मौनव्रती होने से ब्राह्मण ने कोई उत्तर नहीं दिया । विभीषण ने इसे अपना अपमान समझकर उस ब्राह्मण पर पद-प्रहार किया । ब्राह्मण वृद्ध और निर्बल होने से गिर पड़ा और मर गया । यह समाचार पाकर आश्रमवासी सब ब्राह्मण वहाँ दौड़ गये । उन्होंने विभीषण को पकड़ कर खूब पीटा, पर विभीषण मरा ही नहीं, अतः ब्राह्मणों ने विभीषण को बाँधकर बन्दी बना दिया ।

जब श्री रघुनाथजी को इस बात का पता लगा, तो वे तुरन्त वहाँ पहुँच गये । भक्त को संकट में पड़ा जान वे कैसे निश्चिन्त रह सकते थे ? ब्राह्मणों से सब हाल जान कर उन्होंने कहा,"आप लोग सब ज्ञानी हैं, अतः आप स्वीकार करेंगे कि सेवक के अपराध के लिए स्वामी ही दण्डनीय होता है । यह विभीषण मेरा सेवक है । इसे मैंने एक कल्प तक जीवित रहकर लंका का राज्य करने का वरदान दिया है, इसीलिए यह मरा नहीं । इसने जान-बूझकर अपराध नहीं किया है । अनजाने से अपराध हो जाने पर शास्त्रों ने उसके प्रायश्चित्त की की व्यवस्था बताई है । आप मुझे बतावें, वह प्रायश्चित्त मैं स्वयं करूंगा ।"

विभीषण छोड़ दिया गया । श्री रामचन्द्र ने ब्राह्मणों का बताया हुआ प्रायश्चित्त स्वयं किया ।

मानव जीवन की महत्ता—त्याग

• श्री अगर चंद नाहटा

आत्मा अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और शक्ति-सम्पन्न होते हुए भी अनादिकाल से चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण कर रहा है, इसका प्रधान कारण है:—आत्म-विस्मृति। आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप, गुण या स्वभाव को भूलकर पर-भावों में रचा-पचा रहता है। इसीसे कर्मबन्ध होता है और उसके परिणामस्वरूप संसार में भटकता है, इसलिए आवश्यकता है—आत्मा-भिमुखता की। पराभिमुखता, पराज-यता, पराधीनता ही दुःख है। स्वाश्रयता, स्वाधीनता, स्वभाव में रमणता ही सुख है।

जैन मतानुसार पौद्गलिक पदार्थों या वस्तुओं को अपना मानकर या उसमें सुख की कल्पना करके आत्मा निरन्तर उनके संग्रह, सरक्षण की अभिवृद्धि में लगा हुआ है, उनके विनाश या अप्राप्ति में दुःख का अनुभव करता है, अर्थात् पर-पदार्थों को अपना मान लिया है और उनके प्रति ममत्वभाव ही दुखों का मूल कारण है और समत्व ही शान्ति और आनन्द का मार्ग है। महापुरुषों ने अपने अंतर्विवेक और साधना से इस परम कल्याणकारी तत्त्व को जाना, अनुभव किया और आत्मवन्धु-रूप समस्त प्राणियों को इस कल्याण-मार्ग को बतलाकर इस ओर प्रवृत्त किया। जिन प्राणियों ने महापुरुषों के उपदेशों से लाभ उठाया, उनका कल्याण हुआ, शान्ति और आनन्द प्राप्त हुआ और अन्त में मोक्ष भी।

जैन तीर्थंकरों ने कहा है कि संग्रह, भोग, और ममत्व ही दुख के कारण हैं, और त्याग तथा आत्म-रमणता ही सुख का कारण है। पर पदार्थों के ममत्व के कारण ही जीव अपना स्वरूप भूल कर निरन्तर संग्रह एवं भोग में प्रवृत्तमान है। उसे त्याग का नाम ही नहीं सुहाता। महापुरुष जब उसे साधु या श्रावकों के व्रत-ग्रहण करने का उपदेश देते हैं, तो वह उसे बहुत दुष्कर और कष्ट-साध्य मानते हुए व्रतों के स्वीकार या ग्रहण के लिए तैयार नहीं होता, क्योंकि अनादि काल से उसके ऐसे दृढ़-संकल्प जम गये हैं कि उपभोगों में सुख है, त्याग में दुःख है। यही मिथ्यात्व है जो वस्तु के सच्चे या वास्तविक स्वरूप की प्रतीति नहीं करने देता। सम्यक्दर्शन से बहि-र्मुखता मिटती है और अन्तर्मुखता प्राप्त होती है।

जैन आध्यात्मिक ग्रन्थों में आत्मा के तीन भेद किये हैं—बहिरात्मा,

अन्तरात्मा और परमात्मा । शुद्ध-स्वरूप का पूर्णरूप से प्रकट हो जाना ही परमात्म-पद है । सम्यग्‌दृष्टि ही अन्तरात्मा है, और मिथ्या दृष्टि ही बहिरात्मा है । शरीर आदि पौद्‌गलिक पदार्थों को अपना मानना, उनमें सुख मानना, भोगोपभोगों में आसक्त रहना ही बहिरात्मा के लक्षण हैं । सम्यग्दृष्टि यद्यपि कर्मोदय के कारण पर-पदार्थों का त्याग नहीं कर सकती, पर उनमें मूर्च्छा या आसक्ति-भाव कम करती है या छोड़ती है । उसके आगे जब वह देश-विरति बनता है, तो सीमित भावना को पनपाता है । और सर्व-विरति बनने पर त्याग-मार्ग में पूर्ण-रूप से अग्रसर हो जाता है ।

जब पर पदार्थ अपने हैं ही नहीं, इसकी जब दृढ़ प्रतीति हो जाती है, तब त्याग में कठिनाई नहीं होती, भोगों में आकर्षण नहीं रहता, विरक्ति या वैराग्यभाव बढ़ता जाता है । आवश्यकताओं को सीमित करते हुये पर पदार्थों के त्याग में वह निरन्तर प्रगतिशील रहता है । ऐसी आत्माओं को चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, राजा इन्द्र आदि सभी बड़े-बड़े अधिकारी सदा आदरभाव से नमन-वंदन करके अपने को धन्य व कृत-पुण्य मानते हैं । भोग पर त्याग की यह महान विजय, त्याग की महत्ता को भली-भाँति प्रकट कर देती है । दीन, रंक, बालक या स्त्री कोई भी हो, जब भी वह संसार की विषय-वासना, पर-पदार्थों की मूर्च्छा-आसक्ति को छोड़कर त्यागी बन जाता है, तो वह सबके लिये आदर-णीय और पूज्य माना जाता है ।

त्यागी का सुख इतना अधिक बतलाया गया है कि उसके सामने चक्रवर्ती और इन्द्र के सुख निःसार और तुच्छ हैं । एक त्यागी मुनि के आत्मिक आनन्द के सामने वे कौड़ी की कीमत के भी नहीं हैं । त्याग में जो मस्ती है वह भोग में मिल ही नहीं सकती, क्योंकि भोग पराश्रित है और त्याग स्वाश्रित है । भोग के साथ रोग या दुख लगा हुआ है । अतिमात्रा में भोग करने से रोग हो जाता है, शारीरिक व मानसिक क्षति होती है और अन्त में भोगों के प्रति अरुचि हो जाती है ।

भोग के साधन जुटाने में कड़ा परिश्रम करना पड़ता है, उसके संरक्षण की चिन्ता बनी रहती है और नष्ट हो जाने पर अभाव या वियोग-जन्य दुःख का अनुभव तो सभी करते ही हैं । भोग के साथ उपाधि,आधि और व्याधि तीनों लगी रहती हैं । इसलिए विषय भोगों को ज्ञानी पुरुषों ने त्यागा । यद्यपि उनको सारे साधन और सुविधायें प्राप्त थीं । तीर्थंकर राजाओं के यहाँ जन्म लेते हैं, उनके लिए भोगों के सभी साधन

सुलभ होते हैं, पर वे उन्हें छोड़कर त्यागमार्ग स्वीकार करते हैं।

भारतीय परम्परा में मानव जीवन को चार आश्रमों में विभक्त किया गया है। ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थ, और वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यासाश्रम। १०० वर्षों की आयु मानकर प्रथम २५ वर्ष विद्याध्ययन तथा शारीरिक मानसिक विकास में लगाने का विधान है। फिर भी धनोपार्जन (व्यापार) और कुटुम्ब आदि पालन करते हुए गृहस्थाश्रम में रहकर अन्त में भोगों से निवृत्त होकर त्यागमय और सेवामय जीवन अपनाया जाता है। वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम क्रमशः त्याग की बढ़ती हुई भूमिकाएँ हैं। समस्त वस्तुओं का ही नहीं, इच्छाओं, आकाँक्षाओं का त्याग करके जब मनुष्य आत्मनिष्ठ हो जाता है, तभी साधनामय जीवन बिताते हुए सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

भारतीय धर्मों में तपस्या को बहुत महत्त्व दिया गया है। तप का अर्थ है— इच्छाओं का निरोध कर अपनी समस्त शक्ति को साधना में लगा देना, खपा देना। तप दो प्रकार का होता है—बाह्य और आभ्यंतर। बाह्य तप में चारों प्रकार के आहारों का सीमित या दीर्घ-कालीन, आंशिक या पूर्ण-तया त्याग होता है। वह इसलिए किया जाता है कि बिखरी हुई सारी शक्तियों को साधना में केन्द्रित किया जा सके। खाने-पीने के साधन जुटाने और तत्संबंधी क्रियाओं के करने में जो शक्ति लग रही है, वह आध्यात्मिक साधना में लगाई जा सके, तो उनकी साधना में गति, स्फूर्ति एवं शक्ति बढ़ेगी।

दान भी त्याग का ही एक रूप है। हमारे पास जो भी धन, सम्पत्ति, शक्ति, ज्ञान तथा जीवनोपयोगी साधन हैं उनका उपयोग केवल अपने तक ही सीमित न रखकर जिनको उनकी आवश्यकता है, उन्हें दे देना ही दान है। हम धनादि से अपने ममत्व का त्याग करते हैं, तभी दूसरों को उनका दान किया जा सकता है। पर-पदार्थ अपने हैं ही नहीं, तो उन पर ममत्व रखना तो अवश्य ही एक बड़ी भूल है, जिसे जीव आत्म-विस्मृति के कारण निरन्तर करता जा रहा है।

जब मनुष्य साधना में लीन हो जाता है, तो त्याग करना नहीं पड़ता, स्वतः हो जाता है। पर-पदार्थ के संग्रह, संरक्षण एवं भोग में उसकी रुचि ही नहीं रहती। यह त्याग की स्वाभाविक प्रक्रिया है। जब तक गहरी आसक्ति है, तबतक प्रयत्न-पूर्वक त्याग करना पड़ता है। बाहर दिखाने में त्याग कर दिया, पर भोगों के प्रति आकर्षण बना रहा, तो वह

त्याग सच्चा त्याग नहीं है। जब आत्मा अपने स्वभाव में रमण करने लगता है, तब देहादि किसी भी पर-पदार्थ का उसे ध्यान नहीं रहता, उनका त्याग अपने आप हो जाता है। मोक्ष क्या है—कर्म-बंधनों से छूट जाना और कर्म-बंधन का कारण है—राग-द्वेष। विषय और कषाय का त्याग वास्तव में मोक्ष है। इनके त्याग के बिना मोक्ष मिल ही नहीं सकता।

मनुष्य जन्म लेता है तो शरीर के अतिरिक्त और कोई भी चीज साथ में नहीं लाता और जब परलोक जाता है तब भी कोई चीज साथ नहीं ले जाता। यह बीच की अवस्था है जिसमें वह धन, परिवार आदि पर-पदार्थों को अपना मानकर उन पर ममत्वभाव कर लेता है। इसी से उसे त्याग करने में बड़ी कठिनाई मालूम देती है। अन्तिम समय तक वह धन, कुटुम्ब आदि का त्याग करना नहीं चाहता है, पर विवश होकर उनको त्यागना पड़ता है। इससे उसे बहुत दु:ख होता है। ज्ञानी पुरुष पर-पदार्थों को अपना मानते ही नहीं हैं, इसलिए उन्हें उनके त्याग से कोई दुःख नहीं होता। परिग्रह में हम सब लिप्त हैं, पर मुनिगण उसको त्याग देते हैं, तभी आत्मानन्द का वे अनुभव कर पाते हैं।

सद्‌गुणों के विकास के लिए अवगुणों का त्याग बहुत ही जरूरी है। यदि पापों को छोड़ेंगे नहीं, तो धर्म में वे लगा नहीं सकते। इसलिए दुर्व्यसनों व दुर्गुणों का त्याग करते ही रहना चाहिये। जिन्होंने त्याग किया वे महापुरुष बने और जिन्होंने राग किया वे संसार में परिभ्रमण करते रहे। जो भोगों में आसक्त रहे वे पाप-बंधन में पड़े रहे। आरम्भ-समारम्भ द्वारा नित्य नये कर्मों का बंधन होता रहता है।

सबसे बड़ा त्याग रागभाव को छोड़ना है। राग छूट गया तो द्वेष भी छूट जायगा और वीतराग बन जायेंगे। मनुष्य का अहम् ही परमात्म-पद प्राप्ति में बड़ा बाधक है। इसलिए परमात्मा बनना है तो रागभाव व अहंभाव को त्याग दें।

धर्म के दस प्रकारों में त्याग-धर्म भी एक है। वैसे सभी मनुष्यों को कुछ न कुछ किसी न किसी प्रकार का त्याग करना ही पड़ता है, पर अनिच्छा से व विवश होकर किया हुआ त्याग वास्तव में त्याग नहीं है। प्राप्त भोगों को इच्छापूर्वक छोड़ देना ही सच्चा त्याग है। त्यागी महापुरुषों का आदर्श सामने रखते हुए हमें भी अपने जीवन में अधिकाधिक त्याग करते रहना है।

★

छात्र-अनुशासन-हीनता

(एक विहंगम दृष्टि)

* श्री सवाई सिंह जी

छात्रों में अनुशासन-हीनता देशव्यापी ही नहीं, वह आज एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या बन गयी है। अपना देश भारत ही नहीं, एशिया, यूरोप, अफ्रीका, अमेरिका के प्राय: सभी सभ्य देश इस समस्या से अछूते नहीं हैं। पत्र-पत्रिकाओं, रेडियो-टेलिविजन द्वारा इसके भीषण दुष्परिणामों का दिग्दर्शन एक साधारण घटना चक्र के रूप में आये दिन प्रस्तुत किया जाता है।

छात्रों की आयु विशेष या तरुणाई के कारण कुछ उछल-कूद हो, या थोड़ा शोर-शराबा हो, तो ऐसी कोई बात नहीं, किन्तु आये दिन तोड़-फोड़, बसों का जलाना, रेल की पटरियाँ उखाड़ देना, टेलीफोन के तार काट देना आदि-आदि सार्वजनिक उपयोगी वस्तुओं को नष्ट करना आज छात्रों के कार्यक्रम का प्रमुख अंगसा बन गया है।

चूँकि यह एक संसार-व्यापी समस्या है, अत: इसके कारण भी परे समाज-शरीर में व्याप्त हैं। प्राय: लोग इस समस्या के लिए कभी छात्रों को तो कभी अध्यापकों को और कभी अभिभावकों को उत्तरदायी ठहराते हैं, किन्तु इस घातक महा-व्याधि के मूल में नहीं पैठ पाते। जब तक मूल का इलाज नहीं हो पाता, ऊपर-ऊपर से कोई भी उपचार स्थायी और पूर्ण स्वास्थ्य प्रदान करने में कारगर सिद्ध नहीं हो सकता।

तो फिर आइये, इसके सही निदान की छान-बीन करें। छात्र नादान हैं, दिशा-शून्य हैं और विवेक का आदर नहीं करते, यह हालत है, अधिकांश की। किन्तु, जरा सोचिये, उनको सच्चा मार्ग-दर्शन भी कहाँ मिल पाता है? जहाँ उनको श्रेष्ठ प्रेरणा प्राप्त होनी

चाहिए वहाँ मिलता है प्रायः पाठ इसके विपरीत। आज सबसे अधिक शक्ति, उसका प्रदर्शन, उदाहरण और प्रस्तुतीकरण प्राप्त होता है उनको राज-नेताओं से और उनके कार्यक्रमों से। अब ध्यान दीजिये,इन नेताओं में किस प्रतिशत में सच्चे, अच्छे, आदर्शवान व्यक्ति उनको मिलेंगे। जैसे वे हैं, वैसी ही तो होगी उनकी शैली और तदनुरूप कार्यक्रम भी उनके द्वारा प्रस्तुत किया जा सकेगा। इतना ही नहीं, क्या वे कभी अपनी स्वार्थ-साधना के लिए छात्रों का उपयोग करने में चूकते हैं? पार्टी के नेतागण अपना पूरा जोर लगाते हैं उनको अपने चक्र में फंसाने का। फिर छात्र भी ऐसे अवसरों को अपने हाथ से क्यों जाने दें? वे वहती गंगा में हाथ ही नहीं धोते, प्रत्युत यहाँ तक सोचने लगे हैं कि किस पार्टी के नेता किस हद्द तक उनकी अपनी ऊँची-नीची माँगों के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकेंगे। उन्हीं के लिए वे भी सहायक होते हैं। ये हैं हालात आज की राजनीति के। राजनीति या सही माने में दुश्चक्र का कैसा नंगा नाच हो रहा है? पूरे सभ्य संसार में यही हवा आज सर्वत्र व्याप्त है।

तो, फिर क्या ये नेता ही छात्रों की अनुशासन-हीनता के लिए जिम्मेदार हैं? नहीं, थोड़ा और आगे बढ़ें, गहराई से सोचें कि ऐसे नेता किसके वल पर नेता वन जाते हैं और वने रहते हैं। ऐसे अगुवाओं को अगुवा वनाने वाले और वने रहने में मदद करने वाले भी दूसरे कोई नहीं, हमी लोग तो हैं। आखिर, यह चोट लगी हमी को। बात इस प्रकार है— जब चुनाव होते हैं तो हमी लोगों में से कुछ तो सीधे स्वार्थ-सिद्धि में लग जाते हैं या उसके शिकार बना लिए जाते हैं, कुछ तटस्थ वृति से या नीरस ढंग से काम करते हैं और अधिकांश पिछलगुओं का काम करते हैं या चंट लोगों के हाथ के खिलौने वन जाते हैं। विचार कीजिये, मर्यादा और नियमों में रहते हुए विवेकपूर्ण तरीके से किस प्रतिशत में लोग निर्वाचन कार्य में सम्मिलित होते हैं। सही बात तो यह है कि राष्ट्र व्यापी इस कार्य में विवेकपूर्ण उत्तरदायित्व ही किसी सीमा तक छात्र-समस्या का हल निकाल सकेगा।

थोड़ा और आगे बढ़िए, आम जनता को सच्चा मार्ग-दर्शन कहाँ से प्राप्त हो सकेगा? आप कहेंगे, सामाजिक और धार्मिक निष्काम-सेवाभावी सन्त-महात्माओं से; किन्तु इनकी संस्थाएँ और ऐसे संघ भी कहाँ पूरे बल से कार्य कर पाते हैं जिससे छात्र उस ओर आकृष्ट हों

और प्रेरणा प्राप्त कर सकें। आज तो हम लोग सामाजिक नेताओं का उस मात्रा में सम्मान भी नहीं कर पाते, जिस मात्रा में राजनीतिक नेताओं का करते हैं। यह तो निर्विवाद है कि उचित मात्रा में सब का सम्मान होना आवश्यक है, किन्तु प्रत्येक का अपना स्थान है। प्राकृतिक न्याय के अनुरूप सूक्ष्म विवेचन के उपरान्त यथा विधि सबका यथोचित आदर, सम्मान, अनुकरण हो, तभी हमारे छात्र भी विवेकपूर्ण ढंग से कार्य करने लगेंगे।

अन्त में, आज तो हमें अपने पूरे समाज का सही ढंग से इलाज करना है। देश-विदेशों में सर्वत्र अनुशासन-हीनता व्याप्त है। मालिक, मजदूर, किसान, व्यापारी, राजकर्मचारी अधिकतर सभी श्रेणियों के व्यक्ति स्वार्थ लोलुपता के शिकार हो रहे हैं। तो फिर छात्र ही इसमें अपवाद कैसे हो सकते हैं? स्थिति तो यहाँ तक पहुँच चुकी है कि साधु-महात्मा कहलाने वालों में भी कोई लाखों-करोड़ों में विरले ही कसौटी पर ठीक उतर पायेंगे। वहां भी तो ढोंग-ढकोसले, अंध परम्पराएं व्याप्त हैं। अतः अत्यन्त सावधानी से सोचने पर ही विवेक सम्मत क्षीर-नीर न्याय सम्भव हो सकेगा। सर्व प्रथम, इलाज के लिए हम स्वयं ही आगे बढ़ें और आत्म निरीक्षण के उपरान्त विवेक का आदर करें। यही छात्र-अनुशासनहीनता और हमारी अन्य सभी समस्याओं का एकमात्र इलाज है।

'अपने सुधार में ही सबका सुधार निहित है।'

शिक्षा सामर्थ्य है और दीक्षा प्रकाश। सामर्थ्य का उपयोग अन्धकार में करना अपने विनाश का आह्वान करना है।.............. अतः शिक्षा का उपयोग दीक्षा के अधीन होना चाहिए। किसी भी मानव को यह अभीष्ट नहीं है कि सबल उसका विनाश करे, अतः बल का दुरुपयोग न करने का व्रत कर्त्तव्य-पथ की दीक्षा है। जिस मानव ने यह अविचल निर्णय कर लिया कि किसी भी परिस्थिति में बल का दुरुपयोग नहीं करना है, उसमें स्वतः कर्त्तव्य की स्मृति उदित होगी, यह दीक्षा की महिमा है .... इस दृष्टि से कर्त्तव्य-पथ पर चलने के लिए दीक्षा अनिवार्य है।........ ....यद्यपि शिक्षा बड़े ही महत्त्व की वस्तु है, पर दीक्षित बिना हुए शिक्षा के द्वारा घोर अनर्थ भी हो जाते हैं।

(नीति और दर्शन से)

आलोक-पथ

• प्रतिभा 'निशा'

त्याग, प्रेम और सेवा से ही,
बनते सभी महान।

ममता-मोह-लोभ को, तज कर,
बनो नेक इन्सान ।त्याग०

निज विवेक का आदर करके,
अपने को पहचानो ।

कोई नहीं पराया जग में,
सबको अपना मानो ।
धरती सबकी, गगन सभी का,
करो जरा यह ध्यान ।त्याग०

प्रभु ने बिना भेद के सब को,
सब कुछ है दे डाला ।

हम क्यों स्वार्थ में रंग गये सारे,
जब कोई और है देने वाला,
अपने आप को जानना ही है,
प्रभु की सच्ची पहचान ।त्याग०

सन्त-पत्रावली

(१)

इन्दौर
२-६-५८

सत्य पथ की अनुगामिनी, स्नेहमयी दुलारी बेटी,
सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

यह तो सभी को मान्य ही है कि साधन-युक्त जीवन मानव जीवन है। इस कारण अपनी-अपनी रुचि, योग्यता तथा सामर्थ्य के अनुसार प्रत्येक मानव को साधन-निर्माण करना अनिवार्य है। निज विवेक के प्रकाश में जाने हुए असाधन का त्याग करते ही साधन का निर्माण स्वतः हो जाता है, क्योंकि असाधन के त्याग में ही साधन का निर्माण निहित है। असाधन-जनित सुख-लोलुपता साधक द्वारा असाधन का त्याग होने में बाधक होती है। इस दृष्टि से सर्व प्रथम अकर्तव्य से उत्पन्न हुई सुख-लोलुपता को नष्ट करना अनिवार्य है। यद्यपि आया हुआ सुख अपने आप चला जाता है, किन्तु उसका प्रलोभन साधक को सुख की दासता में आबद्ध कर देता है। सुख की दासता ही दुख के भय को जन्म देती है। प्राकृतिक विधान के अनुसार दुख न चाहने पर भी आ जाता है और सुख न चाहने पर भी चला जाता है। विचारशील साधक आये हुए सुख-दुख का भोग नहीं करते, अपितु उपयोग करते हैं। सुख-दुख का भोग असाधन है और सदुपयोग साधन है। सुख-दुख परिवर्तनशील जीवन की दो अवस्थाएं हैं। साधक को उन दोनों से अतीत के जीवन में प्रवेश पाना है। सुख-दुख में जीवन-बुद्धि न रहने से सुख-दुख के सदुपयोग की सामर्थ्य अपने आप आ जाती है। सुख-दुख का सदुपयोग वे ही प्राणी नहीं कर पाते जो सुख-दुख को ही जीवन मान लेते हैं, उन्हें साधन सामग्री नहीं जानते। सुख उदारता का और दुख त्याग का पाठ पढ़ाने के लिए आता है। उदारता करुणा तथा प्रसन्नता द्वारा भोग की रुचि का नाश कर काम रहित करने में समर्थ है और त्याग भी अहम् और मम का नाश कर निर्वासना प्रदान करने में समर्थ है। इस दृष्टि से सुख तथा दुख दोनों ही के सदुपयोग का समान फल है। यह रहस्य भलीभाँति जान लेने पर न तो साधक सुख की दासता में ही आबद्ध होता है और न दुख से ही भयभीत होता। इसके लिए सुख-दुख दायें-बायें पैर के समान अर्थ रखते हैं। अतः प्रत्येक परिस्थिति में साधक साधन-निष्ठ हो सकता है, यह निर्विवाद सत्य है।

तुम्हारा .....

स्नेहमयी साधन-निष्ठ प्रिय पुत्री,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

होशंगाबाद
ता० ७-१-५६

निज विवेक के प्रकाश में अपने जाने हुए दोष का त्याग और की हुई भूल को न दोहराना ही साधन-निर्माण में हेतु है। असाधन रहित होने पर अल्प से अल्प साधन से भी सिद्धि होती है। और असाधन के साथ-साथ किया हुआ साधन वर्तमान में सिद्धि नहीं देता। कालान्तर में भले ही उसका फल हो। जाने हुए असत्य के संग से ही समस्त असाधनों की उत्पत्ति होती है। जब साधक निज ज्ञान के प्रकाश में विवेक-विरोधी कर्म, सम्बन्ध तथा विश्वास का त्याग कर देता है, तब अनन्त काल के उत्पन्न हुए समस्त असाधन वर्तमान में ही नष्ट हो जाते हैं। किये हुए असाधन की स्मृति-मात्र रह जाती है, जिसका नाश उससे असहयोग करने पर अपने आप हो जाता है। जो कुछ हो रहा है उससे असंग हो जाओ। जाने हुए के प्रभाव से किये हुए का प्रभाव नष्ट कर दो और सुने हुए प्रभु में अविचल श्रद्धा कर सब प्रकार से उन्हीं की होकर रहो।

प्यारी बेटी, तुम्हारा निज स्वरूप अनन्त की अनुपम प्रीति है, तुम देह अभिमान को त्याग, प्रीति से अभिन्न हो, अपने ही में अपने प्रीतम को नित-नव रस प्रदान कर सकती हो। प्रीति प्रीतम का स्वभाव और तुम्हारा जीवन है। दुलारी बेटी, जब साधक वर्तमान कर्तव्य कर्म द्वारा अपने प्यारे की पूजा करता है, तब प्रत्येक कार्य के अन्त में स्वतः प्रेमास्पद की मधुर स्मृति जागृत होती है, जो प्रेमास्पद को रस देने में समर्थ है।

मिली हुई वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता की ममता का त्याग कर दो। यह भली-भाँति जान लो कि जिस किसी को जो कुछ मिला है वह न तो उसका है और न उसके लिए है। मिले हुए के द्वारा विश्व भगवान की सेवा की जा सकती है। सेवा करने की सामर्थ्य उन्हीं साधकों को प्राप्त होती है जो दुखियों को देख करुणित और सुखियों को देख प्रसन्न होते हैं। सेवा मानव-जीवन को जगत के लिए उपयोगी सिद्ध करती है। विवेक पूर्वक असंग होते ही स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश होता है, जिसके होते ही जीवन अपने लिए उपयोगी सिद्ध होता है। प्यारे प्रभु में आत्मीयता स्वीकार करते ही प्रियता जागृत होती है, जिसके होते ही जीवन प्रभु के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-परायणता, असंगता एवं शरणागति में ही समस्त साधनों की अभिव्यक्ति निहित है।...... मेरी सद्भावना सदैव तुम्हारे साथ है।

तुम्हारा ......

साधकोपयोगी बातें—

भूल सुधार की अनिवार्यता

• श्री जीवनराम जी

(जैसा मैंने सुना और समझा)

अपनी भूल को मिटाये बिना कोई भी सुखी नहीं हो सकता। भूल मिटती है विचार से—बुद्धि के विचार से नहीं—प्रत्युत उस विचार से जिसका उदय निज विवेक के प्रकाश में होता है। यदि कोई पूछे कि भूल क्या है? तो कहना होगा कि प्राप्त की ममता, आसक्ति और दुरुपयोग, अप्राप्त की कामना और भगवान में अनास्था, यही मूल भूल है। इससे फिर अनेक प्रकार की भूलों का जन्म हो जाता है। हमारी यह भूल हमें ही मिटानी पड़ेगी, कारण कि भूल को जानने का विवेक और मिटाने का बल प्रभु ने हमें दिया है, इसलिए भूल को मिटाने का हमारा दायित्व है। यदि हम अपनी भूल को नहीं मिटायेंगे, तो कोई भी महापुरुष और कोई भी गुरु हमारी भूल को नहीं मिटा सकेगा। गुरु का काम है ज्ञान देना। मैं शरीर नहीं हूँ, पदार्थ मेरे नहीं हैं और शरीर तथा पदार्थों को मैं सदा अपने साथ नहीं रख सकता—यह बात सभी जानते हैं। कुटुम्ब तथा जगत् के सभी लोग स्वार्थ के साथी हैं, यह भी सभी जानते हैं। तो बताओ कि कोई भी गुरु इससे बढ़ कर हमें क्या ज्ञान सिखायेगा। भगवान हमारे हैं, उनसे मेरा नित्य सम्बन्ध है और भगवान की शरण ग्रहण करने पर जीव का कल्याण हो जाता है, यह बात भी हम जानते हैं। कोई सन्त या महापुरुष इससे बढ़ कर भक्ति की बात हमें क्या सिखायेगा? अतः हमें अपनी इस जानकारी का आदर करके अपनी भूल मिटानी होगी तभी हम सुखी हो सकेंगे। यह बात परम सत्य है।

हर मनुष्य अपनी भूल को हर परिस्थिति में मिटा सकता है, क्योंकि यह मनुष्य-जन्म भूल मिटाने के लिए ही मिलता है। अपनी भूल को मिटाने से ही मनुष्य को योग-

बोध, प्रेम की प्राप्ति होती है। निर्दोष निष्काम होने से योग सिद्ध होता है, फिर असंग होने से बोध होता है और प्रभु में आत्मीयता करने पर प्रेम की प्राप्ति होती है। निर्दोष, निष्काम और असंग हर मनुष्य हो सकता है और प्रभु को भी हर मनुष्य अपना मान सकता है। हम भूल को मिटाना चाहते हैं, पर मिटा नहीं पाते। यह तो मनुष्य की एक दशा है। इस दशा को सुधारने के लिए हम बेचैन बने रहें और सच्चे हृदय से इस दशा का सुधार करना चाहें, तो बहुत शीघ्र ही हमारी यह दशा सुधर सकती है, परन्तु यदि हम इस दशा में ही सन्तुष्ट बने रहें, तो फिर बताओ कैसे सुधरें? हम स्वयं अपनी बिगड़ी हुई दशा का सुधार कर सकते हैं और अपनी भूल को भी मिटा सकते हैं। यह बात परम सत्य है, परन्तु जब हम यह बात मान लेंगे कि भूल को मिटाने में ही जीवन है, तभी तो भूल मिटावेंगे। देखो, अपनी भूल को मिटा कर एक क्षण का भी जीना बहुत कीमती है और बिना भूल मिटाये लाखों वर्ष का जीना भी निरर्थक व बेकार है। अतः हमें तो अब भूल मिटा कर ही चैन लेना है, ऐसा दृढ़ निश्चय कर लेने पर भूल तुरन्त मिट सकती है और भूल मिट जाने के बाद मनुष्य का कल्याण भी वर्तमान जीवन में ही हो सकता है। अतः अपनी भूल को मिटाओ, यही सब का सार है।

(२)

सत्संग की महिमा

अपने जाने हुए असत् का त्याग करना और अपने जाने हुए सत्य को जीवन में उतार लेने का नाम ही सत्संग है। यह सत्संग करना हर साधक का परम कर्तव्य है। इस सत्संग के करने से साधक के जीवन में साधन का निर्माण होता है, फिर कल्याण होता है। परन्तु आज साधन और भजन का तो प्रयास किया जाता है, पर सत्संग करने पर कोई ध्यान ही नहीं देता। सत्संग किये बिना सच्चे साधन की अभिव्यक्ति तो होती नहीं और प्रयास द्वारा किया हुआ साधन सिद्धि नहीं दे पाता, यानी किये जाने वाले साधन से मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता। इसलिए साधक सत्संग करे, साधन का निर्माण तो स्वतः होगा, फिर अपना कल्याण भी स्वतः होगा। देखो, साधन के दो अंग होते हैं— एक अंग साधन और एक अंग भजन। कर्त्तव्य परायणता, असंगता

और शरणागति साधन हैं और प्रभु की अखंड स्मृति, अगाध प्रियता का जागृत होना यह है भजन। अतः जीवन में सदाचार, संयम, त्याग और वैराग्य के आजाने पर साधन का निर्माण होता है और श्रद्धा, विश्वास और आत्मीयता पूर्वक प्रभु के आश्रित होने से भजन का निर्माण होता है, यानी भजन अपने आप होने लगता है। अतः सदाचारी, संयमी होना, निर्दोष निष्काम होना, प्रभु को अपना मानना, यही तो असली सत्संग है। रामायण गीता आदि ग्रन्थों को पढ़ लेना, सत्य की चर्चा करना, यह तो सत्संग की रुचि पैदा करने का एक उद्योग है, यानी एक उपाय है, परन्तु जो मनुष्य इस उद्योग में तो जन्मभर लगा रहे पर जो अपने करने के असली काम अर्थात् सत्संग करने की ओर ध्यान ही न दे, तो उसके जीवन में साधन भजन का निर्माण भी कैसे हो और उस मनुष्य का कल्याण भी कैसे हो? आजकल प्रायः यही तो हो रहा है। मनुष्य बड़े-बड़े समारोह करते हैं, अनुष्ठान करते हैं, उत्सव करते हैं। परन्तु अपने जाने हुए असत् का त्याग नहीं करते, यानी सत्संग नहीं करते। तो वर्षों तक प्रयास करने पर भी सच्ची शान्ति नहीं मिलती, समस्या हल नहीं होती। जहां सुनते हैं वहां यही प्रश्न सुनते हैं कि भगवान में हमारा मन नहीं लगता। इसका खास कारण यही है कि हम सत्संग नहीं करते। इससे साधन का निर्माण नहीं होता और भगवान में मन नहीं लगता। नहीं तो जिसको हम अपना मान लें वह प्यारा न लगे, उसकी याद न आवे, उसमें मन न लगे—यह बात कैसे हो सकती है? कभी नहीं हो सकती। जिसको हम मिथ्या और दुखद जान लें उसका त्याग न हो और उससे मन न हटे, यह बात भी कभी नहीं हो सकती। अतः निर्दोष निष्काम होना ही त्याग है। भोगों के परिणाम को समझ कर उनसे अरुचि होना ही संयम है। संसार की असलियत को जानकर उसमें राग का न रहना ही वैराग्य है और किसी हालत में भी गलत काम न करना ही सदाचार है। इन बातों का जीवन में आजाना ही सत्संग है। इन बातों के जीवन में उतार लेने पर साधन का निर्माण और मनुष्य का कल्याण होता है। इसलिए उपरोक्त बातों को हम जीवन में उतारें, यही सब का सार है।

—*—

सत्संग सप्ताह, गिरजापुरी, जिला बहराइच

सूचनार्थ निवेदन है कि ता. २४ दिसम्बर सन् १९७१ से ता. ३० दिसम्बर, सन् १९७१ तक गिरजापुरी शाखा सभा की ओर से सत्संग समारोह का आयोजन किया गया है, जिसमें पूज्य श्री स्वामी शरणानन्दजी महाराज तथा भक्तिमती प्रो० देवकी देवीजी ने पधारने की स्वीकृति दे दी है। समस्त सत्संग प्रेमी बन्धुओं, विशेषकर मानव सेवा सङ्घ शाखा सभाओं के सदस्यों से सविनय निवेदन है कि उक्त सत्संग समारोह में पधारने की कृपा करें।

आगन्तुक भाई-बहिनों के ठहरने तथा उनके भोजनादि की उचित व्यवस्था इस शाखा सभा की ओर से रहेगी।

नोट–गिरजापुरी एन० ई० रेलवे के बिछिया स्टेशन से ३ किलोमीटर की दूरी पर है। बिछिया स्टेशन गोंडा से कर्तिया घाट जाने वाली लाइन पर स्थित है। स्टेशन से गिरजापुरी तक आगन्तुक सज्जनों को पहुँचाने का उचित प्रवन्ध रहेगा।

निवेदक–**मलखानसिंह** अध्यक्ष
गिरजापुरी शाखा सभा, जिला बहराइच।

"जीवन-दर्शन"

संघ का मुख-पत्र

आवश्यक नियम

१–**'जीवन-दर्शन'** प्रत्येक मास के दूसरे सप्ताह में प्रकाशित हुआ करेगा। इसका वर्ष १ जनवरी से ३१ दिसम्बर तक रहेगा। बीच में ग्राहक बनने वालों के लिये भी वर्ष १ जनवरी से ही प्रारम्भ होगा।

२–पत्र का उत्तर तथा लेख वापस पाने के लिये आवश्यक डाक-टिकट भेजें। पत्र-व्यवहार करते समय **कृपया अपनी ग्राहक-सख्या अवश्य लिखें।**

३–पता बदलने के लिए एक मास पूर्व लिखना चाहिए।

४–जीवन-दर्शन-सञ्चालन की योजना को सफल बनाने के लिए जो महानुभाव अपने सामर्थ्य के अनुसार १०१), २५१), ५०१) या ११०१) रु० प्रदान करेंगे, वे इसके संस्थापक सदस्य कहलायेंगे। उनकी सेवा में पत्रिका आजीवन भेंट-स्वरूप, निःशुल्क भेजी जाती रहेगी।

उक्त रकमें एक वर्ष की अवधि में किश्तों में भी पूरी की जा सकती हैं।

५–पत्रिका सम्बन्धी सारा पत्र-व्यवहार निम्नलिखित पते से करना चाहिए।

व्यवस्थापक :
'जीवन-दर्शन' कार्यालय,
मानव सेवा सङ्घ, वृन्दावन (मथुरा)

वार्षिक मूल्य : ५ रुपये] [एक प्रति का : ४५ पैसे

मुख्य सम्पादक : हनुमन्तसिंह

License No. 60 Regd No. L—564
Licensed to post without pre-payment.

विनम्र निवेदन

'जीवन-दर्शन' के प्रेमी ग्राहकों से

नवम्बर माह का 'जीवन-दर्शन' आपके हाथों में है। दिसम्बर माह के अगले अंक के साथ चालू वर्ष का आपका शुल्क समाप्त हो रहा है, अतः विनम्र निवेदन है कि आगामी वर्ष १९७२ का वार्षिक शुल्क शीघ्र भेजने की कृपा करें, जिससे पत्रिका आपको लगातार मिलती रहे।

वी० पी० से पत्रिका भेजने में ग्राहक बन्धुओं पर अनावश्यक अतिरिक्त व्यय-भार न पड़े और वे सुविधा पूर्वक शुल्क भेज सकें, इस दृष्टि से इस अंक में मनीआर्डर फार्म संलग्न है। इस पर आप अपना पूरा पता तथा ग्राहक संख्या साफ-साफ लिख कर भेजने की कृपा करें। यदि आप नये ग्राहक बन रहे हैं तब ग्राहक संख्या के स्थान पर 'नया-ग्राहक' अवश्य लिख दें।

नोट:—जो महानुभाव अपना शुल्क शाखा सभा के किसी पदाधिकारी आदि के द्वारा भेजते हे उनकी पत्रिका के साथ मनीआर्डर फार्म संलग्न नहीं किया गया है। शुल्क के साथ वे अपनी ग्राहक संख्या भी सूचित कराने की अवश्य कृपा करें।

व्यवस्थापक
'जीवन-दर्शन'

मुद्रक व प्रकाशक—श्री गोविन्दजी, भू. पू. प्रधान मन्त्री, मानव सेवा सङ्घ के लिए
हर्षगुप्त द्वारा राष्ट्रीय प्रेस, डेम्पियर नगर, मथुरा में मुद्रित।